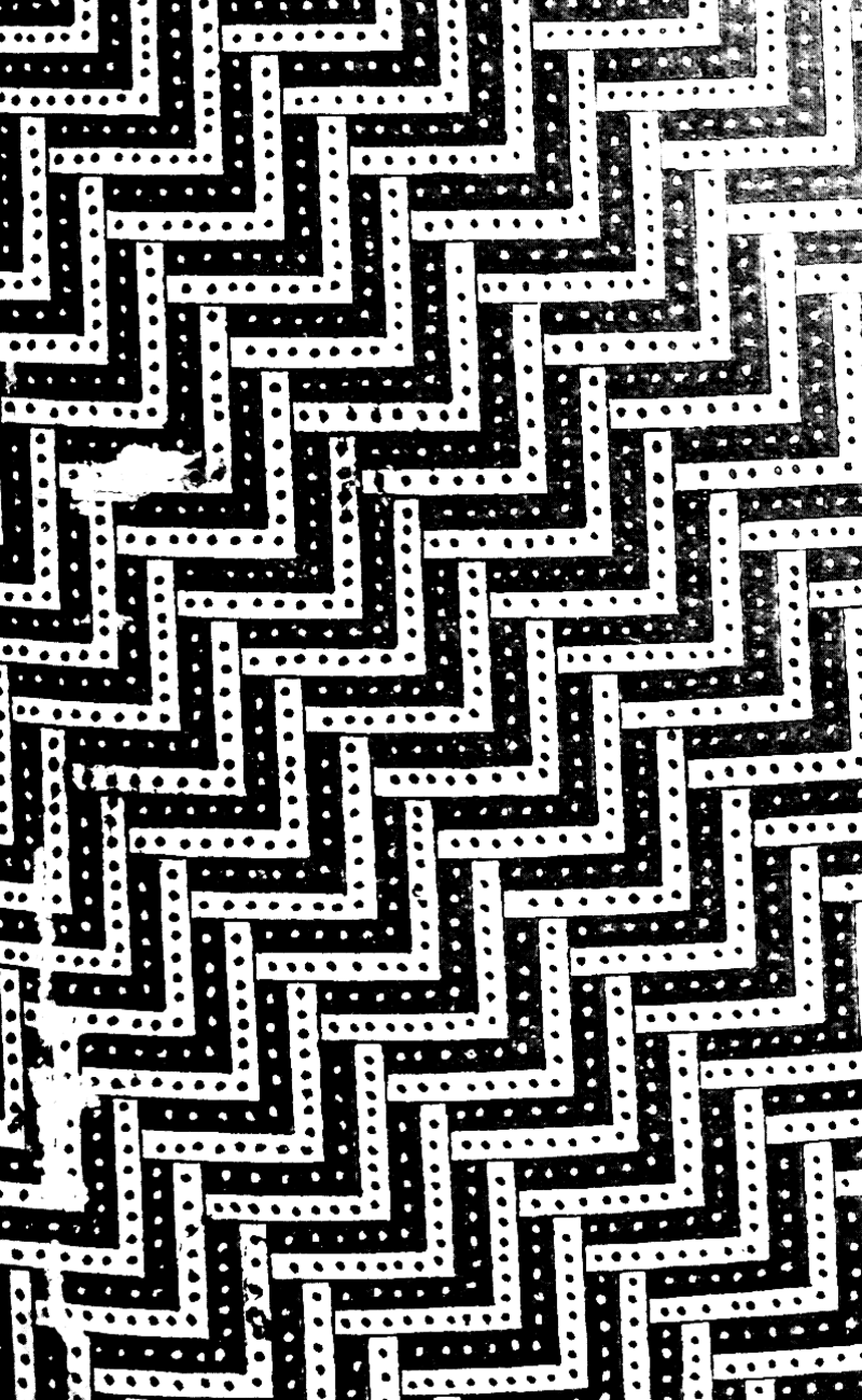


राजर्षि

मूल लेखक

स्व० श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

के

प्रसिद्ध उपन्यास 'राजर्षि' का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

श्री सुरेन्द्रपालसिंह बी० ए०

प्रकाशक

गौतम पुस्तकालय

प्रयाग

मूल्य ढाई रुपया

प्रकाशक—

गौतम पुस्तकालय

प्रयाग।

मुद्रक—

योगेन्द्र प्रेस,

प्रयाग।

राजर्षि

पहला परिच्छेद

गोमती नदी के तट पर भुवनेश्वरी देवी का मन्दिर है। मन्दिर के पत्थर का घाट गोमती के भीतर दूर तक प्रवेश कर गया है। एक दिन ग्रीष्म का सुहावना प्रभात होते ही त्रिपुरा के महाराज गोविन्द माणिक्य स्नान के लिए वहाँ आये। साथ में उनके भाई नक्षत्र राय भी थे।

इसी समय एक छोटी बालिका भी अपने छोटे भाई को साथ लिये उसी घाट पर उपस्थित हुई।' बालिका ने आते ही राजा का वस्त्र खींच कर पूछा—'तुम कौन हो ?'

राजा ने मुस्करा कर उत्तर दिया—'देवि, मैं तो तुम्हारी ही सन्तान हूँ !'

बालिका ने कहा—'मुझे पूजा के लिए फूल तोड़ दो न !'

राजा—'अच्छा तो चलो।'

राजा के अनुचरों में यह दृश्य देखकर खलबली मच गई। वे राजा से बोले—'महाराज क्यों जायँगे ? हम लोग फूल तोड़ देते हैं।'

राजा ने कहा—'नहीं, इसने मुझसे कहा है, मैं ही तोड़कर दूँगा।'

राजा ने नेत्र उठाकर उस बालिका के मुख-मण्डल को देखा। उस दिन की सुन्दर ऊषा से उसका मुख-मण्डल होड़ लगा रहा था। राजा का हाथ पकड़कर वह मन्दिर से लगी हुई फूल की वाटिका में घूम

रही थी। उस समय चारों ओर खिले हुए बेले के फूलों के समान उसके प्रभासमान मुख से मानो सौरभ-पूर्ण भाव उठकर प्रभात के कानन में व्याप्त था।

छोटा भाई भी अपनी बहिन की साड़ी पकड़े साथ-साथ घूम रहा था। वह केवल अपनी बहिन को ही जानता था। राजा के साथ उसका कोई घनिष्ठ परिचय नहीं था।

राजा ने बालिका से पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है?'

बालिका ने उत्तर दिया—'हासि।'

इसके बाद बालक से पूछा—'और तुम्हारा?'

बालक अपने बड़े-बड़े नेत्रों को विस्फारित कर बहिन के मुख की ओर देखता रहा। उसने कोई उत्तर न दिया।

हासि ने उसके शरीर पर हाथ रख कर कहा—'बोलो न भाई, मेरा नाम ताता है!'

बालक ने अपने नन्हें-नन्हें ओठों को थोड़ा-सा खोलकर गम्भीर भाव से अपनी बहिन के कथन को प्रतिध्वनि की तरह दुहराया 'ताता' इतना कहकर उसने बहिन की साड़ी और बलपूर्वक पकड़ ली।

हासि ने राजा को समझाकर कहा—'यह छोटा बच्चा है न, इसीलिए इसे लोग ताता कहते हैं।' फिर वह भाई की ओर मुँह घुमाकर बोली—'अच्छा, मन्दिर कहो?'

बालक ने बहिन के मुख की ओर देखकर कहा—'लदन्द।'

हासि हँस पड़ी और बोली—'ताता मन्दिर तो कह नहीं पाता, लदन्द बोलता है। अच्छा 'कड़ाही' बोलो तो?'

बालक ने गम्भीर होकर कहा—'बलाई।'

हासि फिर हँस पड़ी और बोली—'ताता हम लोगों की तरह कड़ाही तो कह नहीं पाता 'बलाई' कहता है।' इतना कहकर उसने ताता को पास खींच लिया और चुम्बन द्वारा विह्वल कर दिया।

ताता अपनी बहिन की इस आकस्मिक हँसी और अपने प्रति इतने

प्यार का कोई कारण न ढूँढ़ पाया। वह केवल अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को खोले देखता रहा। वास्तव में 'मन्दिर' तथा 'कड़ाही' शब्दों के उच्चारण करने में ताता की ही सारी गलती थी यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। ताता की अवस्था में हासि कदाचित 'मन्दिर' को 'लदन्द' न बोलती रही हो, पर 'पालू' कहती थी। वह कड़ाही को 'बलाई' कहती थी या नहीं यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु वह 'कौड़ी' को 'घई' तो कहती ही थी। खैर, ताता के इस प्रकार विचित्र उच्चारण को सुनकर जो अत्यन्त अट्टहास हुआ उससे अधिक आश्चर्य क्या हो सकता था!

बालिका ने राजा से ताता के सम्बन्ध में अनेक घटनाओं का वर्णन किया। उसने कहा—'एक बार एक वृद्ध मनुष्य कम्बल ओढ़कर आया। ताता उसे भालू कहने लगा। इतनी तो इसकी बुद्धि मन्द है। एक बार यह पेड़ पर शरीफा के फलों को पक्षी समझकर कर अपने छोटे-छोटे हाथों द्वारा ताली बजाकर उनको उड़ाने की चेष्टा करता था।' इस प्रकार ताता की बहिन ने अनेक उदाहरण देकर भली-भाँति प्रमाणित कर दिया कि ताता उससे भी छोटा निरा बालक है।

ताता ने भी अपनी बुद्धि के परिचय की बात स्थिरतापूर्वक सुनी। जो कुछ वह समझ पाया हो, उससे यही प्रतीत होता था कि उसे क्षोभ का कोई कारण नहीं।

इस प्रकार उस दिन प्रातःकाल फूल तोड़ने का कार्य समाप्त हो गया। जिस समय राजा ने उस छोटी बालिका का आँचल फूलों से भर दिया, उस समय उनके मन में उठा मानो उनकी पूजा समाप्त हो गई। इन दो सरल-हृदय प्राणियों के स्नेह-पूर्ण दृश्य को देखकर, एवं इस पवित्र-हृदय की आशा को, फूल तोड़ कर देने से, पूर्ण करके मानो उनका देवपूजन सम्पन्न हो गया।

— — —

दूसरा परिच्छेद

उस दिन के बाद से नींद टूटने एवं सूर्य के निकल आने पर भी राजा का प्रातःकाल नहीं होता, केवल उन दोनों छोटे भाई-बहिनों का मुख देखने पर ही उनका प्रभात होता था। प्रति दिन वह उन दोनों को फूल तोड़ कर दे देते तभी स्नान करते थे। ये भाई-बहिन घाट पर बैठकर उनके स्नान करने को देखते। जिस दिन प्रातःकाल ये दोनों बालक-बालिका नहीं आते, उस दिन मानो उनका सन्ध्या हवन पूर्ण नहीं होता।

हासि और ताता के माँ-बाप नहीं हैं। केवल एक चाचा हैं। चाचा का नाम है 'केदारेश्वर' यही दोनों बालक-बालिका उनके जीवन के एकमात्र सुख एवं सम्बल हैं।

एक वर्ष बीत गया। ताता अब मन्दिर कहने लगा किन्तु 'कहानी' को 'बलाई' कहता है। वह और अधिक बातचीत नहीं कर पाता।

गोमती नदी के किनारे नागकेशर वृक्ष के नीचे पैर फैलाकर उसकी बहिन उससे जो कहानी कहती, उसे ताता अपनी बड़ी आँखों को मलका-मलका कर अवाक् हो सुनता। उस बातचीत का कोई ओर-छोर नहीं होता था, किन्तु वह जो समझता वही जानता था। उस बातचीत को सुनकर, उसी पेड़ के नीचे, उसी सूर्य के प्रकाश में, उसी स्वच्छन्द वायु में, एक छोटे बालक के छोटे हृदय में कितनी बातें उठतीं एवं कितने चित्र बनते हम क्या जानें?

ताता दूसरे किसी लड़के के साथ नहीं खेलता। वह केवल अपनी बहिन के साथ परछाईं की तरह घूमता रहता।

आषाढ़ का महीना था। प्रातःकाल आकाश काले बादलों से आच्छन्न था। इस समय तक वृष्टि नहीं हुई थी, परन्तु अब बादल घिरने का रङ्ग दिखाई पड़ रहा था। किसी दूर प्रदेश से, वर्षा की बूँद से सिक्त शीतल

वायु चल रही थी। गोमती नदी के जल एवं दोनों पार के जङ्गलों के ऊपर अन्धकारयुक्त आकाश की छाया पड़ रही थी। कल रात अमावस्या थी। कल ही भुवनेश्वरी देवी की पूजा हो चुकी है।

ठीक समय पर हासि ताता का हाथ पकड़े स्नान करने के लिए आई। रक्त की एक धारा श्वेत पत्थर के घाट की सीढ़ी से बहकर जल में मिश्रित हो गई थी। कल रात जो एक सौ एक भैंसों की बलि चढ़ाई गई थी उन्हीं का वह रक्त था।

हासि ने उस रक्त की धारा को देखकर, सहसा राजा के कान के समीप जाकर पूछा—'यह किस चीज का दाग है, बाबा ?'

राजा ने उत्तर दिया—'देवि ! रक्त का दाग है।'

बालिका—'इतना रक्त क्यों ?'

उस बालिका ने इस प्रकार से इतने कातर स्वर में पूछा था—इतना रक्त क्यों ? राजा के हृदय में भी क्रमशः यह प्रश्न उठने लगा—'इतना रक्त क्यों ?' राजा सहसा सिहर उठे।

राजा बहुत दिनों से प्रतिवर्ष रक्त की धारा देखते आ रहे थे, परन्तु एक छोटी बालिका का प्रश्न सुनकर उनके मन में विचार आया—'आखिर, इतना रक्त क्यों ?' वह उत्तर देना भूल गये। अन्यमनस्क हो स्नान करते-करते इसी प्रश्न पर ही विचार करने लगे।

हासि जल में अपना आँचल भिगोकर, सीढ़ी पर बैठे-बैठे रक्त की धारा मिटाने लगी। उसकी देखा-देखी ताता भी अपने दोनों छोटे हाथों द्वारा उसी प्रकार करने लगा। हासि का सारा आँचल रक्त से लाल हो गया। जब तक राजा का स्नान समाप्त हुआ तब तक दोनों भाई बहिनों ने मिलकर रक्त का दाग मिटा डाला।

इसी दिन घर लौटने पर हासि को ज्वर आ गया। ताता पास में बैठकर दो छोटी अँगुलियों से बहिन की बन्द आँखों की पलकों को खोलने की चेष्टा करता हुआ बीच-बीच में पुकार उठता था—'दीदी !' दीदी क्षण-भरके लिए चौंककर जाग पड़ती थी—'क्या है ताता'—इतना कहकर ताता

को समीप खींच लेती थी और उसकी पलकें ढुलक पड़ती थीं। ताता कुछ समय तक दीदी के मुख की ओर देखता रहता, कुछ कहता न था। कुछ समय बीत जाने पर धीरे-धीरे दीदी की गर्दन पकड़ कर, मुँह के पास मुँह ले जाकर बहुत धीरे-धीरे बोला—'दीदी, तू उठेगी नहीं?' हासि एकाएक जागकर और ताता को छाती से सटाकर बोली—'क्यों न उठूँगी, मुन्ना!' किन्तु दीदी में उठने की शक्ति शेष न थी।

ताता का छोटा हृदय मानो अन्धकारमय हो गया। उसके सारे दिन के खेल-कूद के आनन्द की आशा एक साथ ही मलिन हो गई। आकाश एकदम अन्धकारमय था। घर के खपरैल पर क्रमशः वर्षा का शब्द सुनाई पड़ रहा था। आँगन का इमली का वृक्ष वर्षा से भीग रहा था। रास्ते पर कोई पथिक भी नहीं था। केदारेश्वर अपने साथ एक वैद्य लेकर आये। वैद्य ने नाड़ी पकड़कर एवं दशा देखकर हालत अच्छी नहीं समझी।

दूसरे दिन स्नानार्थ आकर राजा ने देखा कि मन्दिर पर दोनों भाई बहिन उनकी राह देखते बैठे नहीं हैं। राजा ने मन में सोचा कि इस घोर बरसात के कारण वे आ नहीं सके। स्नान, तर्पणादि से निवृत्त होकर, पालकी में बैठकर वाहकों को आज्ञा दी कि केदारेश्वर के निवास स्थान की ओर ले चलो। सभी सेवक-गण आश्चर्य-चकित हो गये किन्तु राजाज्ञा के आगे कुछ कह नहीं सकते थे।

जब राजा की पालकी आँगन में पहुँची तब घर में बड़ी खलबली मच गई। उस खलबली में सभी लोग रोगी की बीमारी की बात भूल-से गये। केवल ताता न हिला। वह चेतना-शून्य दीदी की गोद के समीप बैठा हुआ, दीदी के आँचल का एक छोर अपने मुख में भरकर, देख रहा था।

राजा को घर में आते हुए देखकर ताता ने पूछा—'क्या हुआ है?'

उद्विग्न-हृदय राजा ने कोई उत्तर नहीं दिया। ताता ने गर्दन हिला-हिला कर फिर पूछा—'दीदी को चोट लगी है?'

ताता के चाचा केदारेश्वर ने झल्लाकर उत्तर दिया—'हाँ, चोट लगी है।'

इसी समय ताता ने दीदी के पास जाकर, उसके सिर को उठाकर रखने की चेष्टा करते हुए गले से लगाकर पूछा—दीदी, तुम्हें कहाँ चोट लगी है?' इस चेष्टा से उसका यही अभिप्राय था कि उस स्थान पर फूँक देकर और हाथ से सहलाकर दीदी के सारे कष्ट दूर कर देगा। परन्तु जब दीदी ने कुछ उत्तर नहीं दिया तब वह और अधिक सहन न कर सका। उसके छोटे अधरोष्ठ प्रश्न का उत्तर न पाकर फूलने लगे और वह अभिमान के कारण रो पड़ा। कल से ही वह बैठा है पर दीदी कुछ भी क्यों न बोली? ताता ने क्या किया है कि उस पर इतनी नाराजगी?

राजा के सामने ताता का वैसा व्यवहार देखकर केदारेश्वर अत्यन्त घबड़ा गये, वे विरक्त होकर ताता का हाथ पकड़ दूसरे कमरे में खींच ले गये। फिर भी दीदी कुछ न बोली।

राज-वैद्य आकर सन्देह-पूर्ण बात कह गये। राजा सन्ध्या समय फिर हासि को देखने आये। उस समय बालिका प्रलाप कर रही थी—'ओ माँ, इतना रक्त क्यों?'

राजा बोले—'देवि, यह रक्त की धारा मैं समाप्त करूँगा।'

बालिका—'भाई ताता, आओ, हम दोनों मिलकर इसको मिटा दें।'

राजा—'आओ देवि, मैं भी मिटाऊँ।'

सन्ध्या के कुछ बाद ही हासि ने एक बार आँखें खोलीं। एक बार चारों ओर देखकर मानो किसी को खोजा। उस समय ताता दूसरे कमरे में रोता-रोता सो गया था। किसी को मानो न देखकर हासि ने आँखें बन्द कर लीं जो फिर कभी न खुलीं। रात्रि के दूसरे पहर में, राजा की गोद में हासि की मृत्यु हो गई।

जब लोग हासि को सदैव के लिए उस घर से बाहर ले गये, उस समय ताता ज्ञानशून्य हो, सो रहा था। यदि वह जान पाता तो वह भी दीदी के साथ-साथ लघु छाया की तरह चला गया होता।

तीसरा परिच्छेद

राजा की सभा लगी है, भुवनेश्वरी देवी के मन्दिर के पुरोहित कार्य-वश राजा के दर्शनार्थ आये हैं।

पुरोहित का नाम है रघुपति। इस नगर में पुरोहित को 'चोन्ताई' कहते हैं। भुवनेश्वरी देवी की पूजा के चौदह दिन के बाद अर्ध-रात्रि में 'चौदह देवताओं' की पूजा होती है। इस पूजा के समय एक दिन और दो रात कोई भी घर से बाहर नहीं आ सकता—राजा भी नहीं। राजा यदि बाहर आवे तो उसे 'चोन्ताई' के समक्ष अर्थ-दण्ड चुकाना पड़ता है। किंवदन्ती है कि इस पूजा की रात्रि को मन्दिर में नर-बलि होती है। इस पूजा के उपलक्ष में सर्वप्रथम जो पशु-बलि चढ़ाई जाती है वह राजभवन से दान-स्वरूप प्राप्त की जाती है। इसी बलि के लिए पशु प्राप्त करने के हेतु पुरोहित राजा के पास आये हैं। पूजा के लिए केवल चौदह दिन और शेष हैं।

राजा ने कहा—'इस साल से मन्दिर में पशु-बलि नहीं होगी।'

समस्त सभासद अवाक् हो गये। राज-भ्राता नक्षत्र राय के सर के बाल तक खड़े हो गये।

पुरोहित रघुपति बोले—'मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ क्या ?'

राजा ने उत्तर दिया—'नहीं, पुजारी जी, इतने दिनों तक हम लोगों ने ही स्वप्न देखा। आज हमें ज्ञान हुआ है। एक बालिका का स्वरूप धारण कर माँ दुर्गा ने मुझको दर्शन दिया था। वह कह गई हैं 'करुणामयी जननी होकर माँ, अपने ही जीवों के रक्त को अब नहीं देख सकतीं।'

रघुपति—'माँ इतने दिनों से फिर रक्त-पान क्यों करती चली आ रही थीं ?'

राजा—'नहीं, माँ रक्त-पान नहीं करती थीं। जब तुम रक्त-पात

करते थे तो वह मुँह फेर लेती थीं।'

रघुपति—'महाराज, आप राज्य-सम्बन्धी कार्य भली-भाँति जानते हैं—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, परन्तु पूजा के बारे में आप कुछ भी नहीं जानते। देवी को यदि कुछ असन्तोष होता तो मैं पहले ही जान जाता।'

नक्षत्र राय ने अत्यन्त बुद्धिमान के सदृश गर्दन हिलाकर कहा—'हाँ, यह बात ठीक ही है। देवी को यदि कुछ असन्तोष होता तो पुजारी जी पहले ही जान जाते।'

राजा ने कहा—'जिसका हृदय कठोर हो गया है, वह देवी की बात को नहीं सुन पाता।'

नक्षत्र राय ने पुजारी के मुख की ओर देखा जिसका अभिप्राय यह था कि इस बात का उत्तर देना आवश्यक है।

रघुपति आगबबूला हो उठे और बोले—'आप पाखण्डी नास्तिक की तरह बातचीत कर रहे थे।'

नक्षत्र राय ने धीमी प्रतिध्वनि की तरह कहा—'हाँ, नास्तिक की तरह बातचीत कर रहे थे।'

गोविन्द माणिक्य ने पुरोहित के तमतमाये हुए मुख की ओर देखा और कहा—'पुजारी जी, आप राज-सभा में बैठकर अपना समय व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। मन्दिर के कार्य का समय बीतता जा रहा है। आप मन्दिर में जाइए। जाते समय मार्ग में प्रचार कर दीजिएगा कि मेरे राज्य में जो व्यक्ति देवता के समीप जीव की बलि चढ़ायेगा उसे देश-निकाले का दण्ड दिया जावेगा।'

तब रघुपति काँपते-काँपते खड़े होकर जनेऊ का स्पर्श करके बोले—'तुम्हारा नाश हो! चारो तरफ से 'हैं! हैं!' करके सभासद लोग पुरोहित के ऊपर टूट पड़े। राजा ने इशारे से सबको मना कर दिया। सभी हटकर खड़े हो गये।

रघुपति कहने लगा—'तुम राजा हो, तुम इच्छा-मात्र से प्रजा का

सर्वस्व हरण करने में समर्थ हो। इसीलिए क्या, तुम माता की बलि भी छीन सकते हो? हूँ, तुम्हारी क्या सामर्थ्य है? मैं रघुपति जब तक माता का सेवक हूँ, तुम पूजा में विघ्न डालोगे तो देख लूँगा।'

मन्त्री राजा के विलक्षण स्वभाव से परिचित थे। वे जानते थे कि निश्चय कर कर लेने के बाद राजा को शीघ्र उनके सङ्कल्प से विरत नहीं किया जा सकता। वे धीरे-धीरे भयभीत होकर बोले—'महाराज, आपके पूर्वज सदैव देवी के समक्ष नियमित रूप से बलि चढ़ाते आये हैं, कभी एक दिन भी इसके विपरीत नहीं हुआ।' कहकर मन्त्री चुप हो गये।

राजा भी चुप रहे। मन्त्री ने फिर कहा—'आज इतने दिनों के बाद आपके पूर्वजों द्वारा प्रतिष्ठित इस प्राचीन पूजा में रोकटोक करने से वे स्वर्ग में असन्तुष्ट होंगे।'

महाराज सोचने लगे। नक्षत्र राय ने अपनी जानकारी जताते हुए कहा—'हाँ, स्वर्ग में वे असन्तुष्ट होंगे।'

मन्त्री ने पुनः कहा—'महाराज, एक काम कीजिए, जहाँ हजार बलि होती थी वहाँ सौ बलि की ही आज्ञा दे दीजिए।'

सभासदों पर मानो वज्रपात हो गया। वे अवाक् थे। गोविन्द माणिक्य भी बैठे-बैठे विचार-मग्न थे। क्रुद्ध पुरोहित अधीर होकर राज-सभा से उठकर जाने को उद्यत हुआ।

इसी समय किसी प्रकार द्वारपाल की दृष्टि बचाकर, नंगे बदन और नंगे पैर एक छोटे बालक ने सभा में प्रवेश किया। राज-सभा में खड़ा होकर, राजा के मुख की ओर अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर उसने पूछा—'दीदी कहाँ है?'

उस वृहत राज-सभा के सभी लोग मानो सहसा निरुत्तर हो गये। इस बड़े भवन में केवल एक बालक की कण्ठध्वनि ही प्रतिध्वनित हो उठी—'दीदी कहाँ है?'

उसी क्षण राजा ने सिंहासन से उतर कर बालक को गोद में उठाकर दृढ़ स्वर से मन्त्री से बोले—आज से हमारे राज्य में बलिदान नहीं हो

सकता। इसके सम्बन्ध में और बात मत कहना।'

मन्त्री ने कहा—'जो आज्ञा !'

ताता ने राजा से पूछा—'मेरी दीदी कहाँ है ?'

राजा ने उत्तर दिया—'माता के पास।'

ताता कुछ क्षण तक मुँह में अँगुली डाले चुप रहा मानो उसे एक आश्रय मिल गया हो—ऐसा उसको आभास हुआ। आज से राजा ने ताता को अपने पास रख लिया। पितृव्य केदारेश्वर को भी राज-प्रासाद में स्थान मिल गया।

सभासद आपस में बातचीत करने लगे—'मानो अन्धेर नगरी हो गई। हम लोग तो यही जानते हैं कि बुद्ध-धर्म वाले ही रक्त-पात नहीं करते। आखिर हम हिन्दुओं के देश में भी वही नियम प्रचलित तो नहीं होगा ?'

नक्षत्र राय ने उनकी हाँ-में-हाँ मिलाकर कहा—'आखिर हम हिन्दुओं के देश में भी वही नियम प्रचलित तो नहीं होगा ?'

सब लोगों ने सोचा—यह अनर्थ का ही लक्षण है। दूसरा क्या हो सकता है ? फिर बौद्ध और हिन्दू में अन्तर ही क्या रहा ?

चौथा परिच्छेद

भुवनेश्वरी देवी के मन्दिर का सेवक जयसिंह क्षत्रिय जाति का था। उसके पिता सुचेतसिंह त्रिपुरा के राजमहल में एक पुराने नौकर थे। सुचेतसिंह की मृत्यु के समय जयसिंह निरा बालक था। इस अनाथ बालक को राजा ने मन्दिर में काम करने के लिए नियुक्त कर दिया था। जयसिंह मन्दिर के पुजारी रघुपति के द्वारा ही पाला-पोसा तथा शिक्षित हुआ था। बाल्यावस्था से मन्दिर में ही पले होने के कारण जयसिंह मन्दिर को घर की तरह प्यार करता था। मन्दिर की प्रत्येक सीढ़ी और प्रत्येक

प्रस्तर खण्ड से उसका पूर्ण परिचय था।

उसके माँ न थीं। वह भुवनेश्वरी देवी की मूर्ति को ही माता के समान मानता था। प्रतिमा के सम्मुख बैठकर वह बातचीत करता था। उसे कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं हुआ।

उसके और भी साथी थे—मन्दिर की वाटिका के अनेक वृक्षों को उसने स्वयं लगाया था। उसके चारों ओर प्रतिदिन उसके वृक्ष बढ़ रहे थे, लतायें लिपट रही थीं, शाखायें पुष्पित हो रही थीं, उनकी छाया घनी होती जाती थी और श्यामल वल्लरियों के पत्र-समूह की यौवन-गरिमा से निकुञ्ज परिपूर्ण हो रहा था। किन्तु ये सारे वृक्ष-गुल्म और उनकी गरिमा जयसिंह की आत्मा के कथानक हैं, उनके प्रेम की कहानियाँ हैं, इसे कोई भी भली भाँति नहीं जानता था। वह अपने अद्वितीय पौरुष एवं साहस के लिए ही विख्यात था।

मन्दिर का कार्य-क्रम समाप्त करके जयसिंह अपनी कुटी के द्वार पर बैठा हुआ था। सामने मन्दिर का बगीचा था। सन्ध्या हो रही थी। घनघोर बादल घिरे हुए थे तथा वृष्टि भी हो रही थी। नव-वर्षा के जल में जयसिंह के वृक्ष-समूह स्नान कर रहे थे। वर्षा की बूँदों के नृत्य के कारण पत्ते-पत्ते पर आनन्द छा गया था। वर्षा के जल से छोटे-छोटे सैकड़ों प्रवाह फूटकर कलकल करते हुए गोमती नदी में जाकर मिल रहे थे। जयसिंह परमानन्द में डूबे हुए अपनी वाटिका की ओर आँखें किये चुपचाप बैठा था। चारों ओर था—बस, बादलों का स्निग्ध अन्धकार, बन की छाया, घने पल्लवों की श्यामल आभा, मेढकों की टर्र-टर्र आवाज और वर्षा का अविश्रान्त झर-झर शब्द। कानन के बीच लगातार नवीन वर्षा की घोर-घटाओं को देखकर जयसिंह के प्राण शीतल हो रहे थे।

वर्षा में भीगते हुए इसी समय रघुपति आ पहुँचे। जयसिंह ने तुरन्त उठकर पाँव धोने के लिए जल और सूखा वस्त्र ला दिया।

रघुपति ने झल्ला कर कहा—'तुमसे कपड़ा लाने को किसने कहा?' इतना कहकर वस्त्रादि को हटाकर घर में फेंक दिया।

जयसिंह पैर धोने के लिए जल लेकर आगे बढ़ा, रघुपति ने झल्लाये

हुए स्वर में कहा—'रुक रुक, तू जल रख दे।' इतना कहकर जल-भरे लोटे को पैर से ढकेल दिया।

जयसिंह सहसा इस प्रकार के व्यवहार के कारण को न समझ कर अवाक् हो गया। कपड़े को भूमि से उठाकर ठीक स्थान पर रखने के लिए चला। रघुपति ने पुनः झल्लाकर कहा—'रुक जा, उन कपड़ों में तू हाथ न लगा।' इतना कहकर स्वयं जाकर कपड़े बदले तथा जल लेकर पैर धोया।

जयसिंह ने बहुत ही मन्द स्वर में कहा—'प्रभु, क्या हमने कोई अपराध किया है?'

रघुपति ने कुछ उग्र-स्वर में उत्तर दिया—'किसने कहा कि तुमने कुछ अपराध किया है?'

जयसिंह व्यथित होकर चुपचाप बैठ गया।

रघुपति अस्थिर होकर कुटी के बरामदे में टहलने लगे। इस प्रकार रात अधिक बीत गई। क्रमशः वर्षा हो रही थी। अन्ततः जयसिंह की पीठ पर हाथ रखकर रघुपति ने कोमल वाणी से कहा—'वत्स, सोने जाओ। रात अधिक बीत चुकी है।'

रघुपति की स्नेह-वाणी को सुनकर जयसिंह विचलित होकर बोला—'प्रभु, पहले आप शयन करने जायँ, फिर मैं चला जाऊँगा।'

रघुपति ने कहा—'अभी मुझे देर है। देखो बेटा, आज मैंने तुम्हारे साथ कुछ कठोर व्यवहार किया है। मन में कुछ बुरा न मानना। मेरा चित्त आज ठिकाने नहीं है। विशेष रूप से सारी बातें मैं तुम्हें कल प्रातःकाल बताऊँगा। आज तुम सोने जाओ।'

जयसिंह ने उत्तर दिया—'जो आज्ञा।' इतना कहकर वह सोने चला गया। रघुपति सारी रात टहलते रहे।

प्रातःकाल जयसिंह गुरु को प्रणाम करके खड़ा हो गया। रघुपति ने कहा—'जयसिंह, माता की बलि बन्द हो गई है।'

जयसिंह ने विस्मित होकर पूछा—'प्रभु, यह कैसी बात?'

रघुपति—'राजा की ऐसी ही आज्ञा है।'

जयसिंह—'किस राजा की ?'

रघुपति ने विरक्त होकर कहा—'यहाँ हमारे कितने राजा हैं ही ? महाराज गोविन्द माणिक्य ने आज्ञा दी है कि मन्दिर में जीव-बलि नहीं हो सकती।'

जयसिंह—'और नर-बलि ?'

रघुपति—'ओह क्या आफत है! मैं कहता हूँ जीव-बलि और तुम सुनते हो नर-बलि।'

जयसिंह—'कोई भी जीव-बलि नहीं हो सकती ?'

रघुपति—'नहीं।

जयसिंह—'महाराज गोविन्द माणिक्य ने ऐसा आदेश दिया है ?'

रघुपति—'हाँ, जी, एक बात कितनी बार कहूँ ?'

जयसिंह कुछ समय तक कुछ न बोला। केवल अपने मन में सोचने लगा—'महाराज गोविन्द माणिक्य! जयसिंह गोविन्द माणिक्य को बालकपन से ही देवता स्वरूप जानता था। आकाश में पूर्ण चन्द्र के प्रति बालकों की जिस प्रकार एक आसक्ति रहती है ठीक उसी प्रकार गोविन्द माणिक्य के प्रति जयसिंह के भाव थे। गोविन्द माणिक्य के प्रशान्त एवं सुन्दर मुख को देखकर जयसिंह प्राणोत्सर्ग भी कर सकता था।

रघुपति ने कहा—'इसका प्रतिकार तो करना ही होगा।'

जयसिंह ने उत्तर दिया—'हाँ, अवश्य। मैं महाराज के पास जाकर उनसे प्रार्थना करूँ कि···।'

रघुपति—'यह बेकार है।'

जयसिंह—'तब क्या करना होगा ?'

रघुपति ने कुछ देर सोचकर कहा—'यह मैं कल बताऊँगा। कल तुम्हें कुमार नक्षत्र राय के समीप जाकर मुझसे गुप्त रूप से मिलने को कहना होगा।'

पाँचवाँ परिच्छेद

प्रातःकाल नक्षत्र राय ने आकर, रघुपति को प्रणाम करके पूछा—'पुजारीजी, क्या आज्ञा है ?'

रघुपति ने कहा—तुम्हारे प्रति माता का आदेश है कि पहले माँ को प्रणाम करने चलो।'

दोनों मन्दिर में गये। जयसिंह भी साथ-साथ गया। नक्षत्र राय ने भुवनेश्वरीकी प्रतिमा के सामने साष्टांग प्रणाम किया।

रघुपति ने नक्षत्र राय से कहा—'कुमार, तुम राजा होओगे।'

नक्षत्र राय—'मैं राजा होऊँगा ? पुजारीजी, आप जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य नहीं होगा।' इतना कहकर नक्षत्र राय अट्टहास कर उठे।

रघुपति—'मैं कह रहा हूँ कि तुम राजा होओगे।'

नक्षत्र राय—'आप कह रहे हैं, कि मैं राजा होऊँगा !' इतना कहकर रघुपति के मुँह की ओर देखने लगे।

रघुपति बोले—'मैं झूठ कह रहा हूँ ?'

नक्षत्र राय—'आप झूठ कह रहे हैं यह कैसे हो सकता है ?'

'देखिए, मैंने कल मेढ़क का स्वप्न देखा था। अच्छा, बताइए मेढ़क का देखने का फल क्या होता है ?'

रघुपति ने हँसी रोककर कहा—'कैसा मेढ़क देखा है ? उसके माथे पर दाग तो नहीं था ?'

नक्षत्र राय ने सगर्व उत्तर दिया—'हाँ, उसके माथे पर दाग तो था ही। दाग न होता तो काम कैसे चलता।'

रघुपति—'हाँ, तभी तो तुम्हें राजतिलक प्राप्त होगा।'

नक्षत्र राय—'तो मुझे राजतिलक प्राप्त पोगा ! आप कह रहे हैं, कि मुझे राजतिलक प्राप्त होगा। और यदि न हो तो ?'

रघुपति—'मेरी बात असत्य होगी ?'

नक्षत्र राय—'नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है। आप तो यह कह रहे हैं न, कि मुझे राजतिलक प्राप्त होगा। मान लीजिए यदि न हुआ? दैवात् ऐसा क्या नहीं हो सकता कि ...।'

रघुपति—'नहीं, नहीं, इसके विपरीत नहीं हो सकता।'

नक्षत्र राय—'इसके विपरीत नहीं होगा! आप कह रहे हैं कि इसके विपरीत नहीं होगा! देखिए, पुजारीजी, मैं राजा होने पर आप को मंत्री बनाऊँगा।'

रघुपति—'मन्त्री-पद को मैं ठुकराता हूँ।'

नक्षत्र राय ने उदारतापूर्वक कहा—'अच्छा, तब जयसिंह को मन्त्री बनाऊँगा।'

रघुपति—'यह बात फिर होगी। राजा होने के पहले क्या करना होगा उसे सुनो। माँ राज-रक्त देखना चाहती है। स्वप्न में मुझे यही आदेश मिला है।'

नक्षत्र राय—'माँ राज-रक्त देखना चाहती है! स्वप्न में आपको यह आदेश हुआ है! यह तो ठीक बात है।'

रघुपति—'तुम्हें गोविन्द माणिक्य का रक्त लाना होगा।'

नक्षत्र राय कुछ क्षण 'हाँ' कहने की स्थिति में मुँह खोले स्थिर रहे। यह बात 'ठीक' है, यह उनके मन में नहीं जँचा।

रघुपति ने तीव्र स्वर से कहा—'एकाएक भ्रातृ-स्नेह उमड़ पड़ा है क्या?'

नक्षत्र राय काष्ठवत् हँसकर बोले—'हा! हा! भ्रातृस्नेह! पुजारीजी, आपने बड़े मजे की कही—भ्रातृ-स्नेह! जो हो।'

इतनी मजेदार और इतनी हास्यप्रद बात मानो और हो ही नहीं सकती—भ्रातृस्नेह? कितनी लज्जा का विषय है! किन्तु भगवान् जानते हैं कि नक्षत्र राय के अन्तःकरण में भ्रातृ-स्नेह जागृत हुआ था जो हँसकर उड़ाया नहीं जा सकता था।

रघुपति ने कहा—'तो फिर क्या करोगे? बोलो।'

नक्षत्रराय ने उत्तर दिया—'क्या करूँ ? कहिए ।'

रघुपति—'अच्छी तरह से सुन लो । तुम्हें गोविन्द माणिक्य का रक्त माँ के दर्शनार्थ लाना होगा ।'

नक्षत्र राय मन्त्रमुग्ध की भाँति कह गया—'गोविन्द माणिक्य का रक्त माँ के दर्शनार्थ लाना होगा ।'

रघुपति अत्यन्त घृणापूर्वक बोल उठे—'तुम्हारा किया कुछ भी नहीं हो सकता ।'

नक्षत्र राय ने कहा—'क्या नहीं होगा ? जो कहेंगे वही होगा । आप आदेश तो करें ।'

रघुपति—'हाँ, मैं आदेश करता हूँ ।'

नक्षत्र राय—'क्या आदेश करते हैं ?'

रघुपति ने विरक्त भाव से कहा—'माँ की इच्छा राज-रक्त देखने की है । तुम गोविन्द माणिक्य का रक्त दिखाकर उनकी इच्छा पूर्ण करो, यह मेरा आदेश है ।'

नक्षत्र राय—'मैं आज ही जाकर फतेह खाँ को इस काम के लिए नियुक्त कर दूँगा ।'

रघुपति—'न, न, किसी अन्य व्यक्ति को इसका लेश-मात्र भी न बताना । मैं केवल जयसिंह को तुम्हारी सहायता के लिए नियुक्त करूँगा । कल प्रातःकाल यह कार्य किस प्रकार सम्पन्न होगा—वह उपाय मैं बताऊँगा ।

नक्षत्र राय ने रघुपति का हाथ हटा कर अपने को बचा लिया और जितनी शीघ्रता से हो सका बाहर चला गया ।

छठा परिच्छेद

नक्षत्रराय के चले जाने पर जयसिंह ने कहा—'गुरु देव, ऐसी भयानक बात मैंने कभी नहीं सुनी थी । आपने माँ के सामने, माँ के ही नाम पर भाई से भाई की हत्या का प्रस्ताव किया और मुझे वहाँ खड़े सुनना पड़ा ।'

रघुपति ने कहा—'दूसरा क्या उपाय है ? बोलो ।'

जयसिंह ने उत्तर दिया—'उपाय ! और कैसा उपाय ?'

रघुपति—'देखता हूँ तुम भी नक्षत्र राय के समान ही हो गये हो। तो इतनी देर तक तुमने क्या सुना ?'

जयसिंह—'जो कुछ मैंने सुना वह सुनने के योग्य नहीं है। उसको सुनने से पाप लगेगा।'

रघुपति—'पाप-पुण्य को तुम क्या समझोगे ?'

जयसिंह—'इतने दिनों तक आप के पास रहकर शिक्षा प्राप्त किया है, क्या पाप-पुण्य के बारे में भी नहीं कुछ जानता ?'

रघुपति—सुनो वत्स, तुम्हें एक दूसरी शिक्षा देता हूँ ! पाप और पुण्य कुछ भी नहीं है। कौन पिता है, कौन भाई है और कौन किसका है ? हत्या यदि पाप है, तो सभी हत्यायें समान हैं, किन्तु कौन कहता है हत्या पाप है ? हत्या तो प्रति दिन ही होती रहती हैं। कोई सिर पर एक पत्थर गिर जाने से हत हो जाता है, तो कोई बाढ़ में डूबकर मर जाता है, कोई मगर के मुँह में पड़कर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो कोई मनुष्य के छूरे से मारा जाता है। कितनी चींटियाँ हमारे पैरों तले कुचल जाती हैं। हम लोग उनकी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ हैं जो इन क्षुद्र प्राणियों के जीवन-मृत्यु के साथ खेल किया करते हैं ? क्या इसमें उस महाशक्ति का संकेत नहीं है ? काल-रूपिणी महामाया के समीप प्रतिदिन कितने ही लाख-करोड़ प्राणियों का बलिदान होता रहता है। संसार के चारों ओर से प्राणियों का रक्त-स्रोत उसके महा-खप्पर में आ-आ कर गिरता रहता है। मैंने भी इस खप्पर में एक और बिन्दु जोड़ ही तो दिया है। राजा की बलि तो वह एक दिन ग्रहण करती ही, मैं तो केवल बीच में उपस्थित होकर उपलक्ष मात्र ही हुआ हूँ।'

इस समय जयसिंह प्रतिमा की ओर मुँह करके कहने लगा—'क्या इसलिए सारा संसार तुम्हें माँ कहता है ? बोलो देवि ! ओ, पाषाण-हृदया, राक्षसी, सारे संसार का रक्त-पान करके उदर में भरने के लिए ही तूने

यह लाल जीभ बाहर निकाल रक्खी है ? स्नेह, प्रेम, ममता, सौन्दर्य, धर्म—सभी मिथ्या हैं, सत्य है केवल तेरी चिर-रक्त-पिपासा ? तेरी ही उदर-पूर्ति के लिए मानव, मानव के गले में छूरी भोकेगा, भाई भाई का खून करेगा, पिता-पुत्र आपस में रक्त-पात करेंगे ? निष्ठुर, सचमुच यदि तेरी यही इच्छा है तो बादल रक्त-वर्षा क्यों नहीं करते ? करुणा-रूपिणी नदी रक्त-प्रवाह के साथ शोणित-सागर में क्यों नहीं गिरती ? नहीं, नहीं, माँ, तुम प्रत्यक्ष कहो, यह शिक्षा असत्य है, यह शास्त्र झूठा है। मेरी माँ न कहकर, सन्तान का रक्त-पान करनेवाली राक्षसी कहा जाय—यह बात मैं सहन नहीं कर सकता।'

जयसिंह के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगा। वह अपनी बात अपने मन में सोचने लगा। ऐसी बात कभी भी उसके मन में उत्पन्न नहीं हुई थी। यदि रघुपति उसको नई शास्त्र-शिक्षा न देते तो कभी भी यह बात उसके मन में न उठती।'

रघुपति ने मुस्करा कर कहा—'तभी तो बलिदान की प्रथा एक बारगी उठा दी गई है।

जयसिंह अपने शैशव काल से ही प्रति दिन बलिदान देखता आया है। इस प्रकार मन्दिर में होनेवाला बलिदान किसी समय बन्द हो सकेगा, अथवा बन्द होना चाहिए—यह बात थोड़ी भी उसके मन में नहीं बैठती थी। इस प्रकार क्यों हुआ—यह बात मन में आते ही उसके हृदय पर धक्का लगा।

इसी सम्बन्ध में रघुपति की बात का उत्तर देते हुए जयसिंह ने कहा—'वह एक स्वतन्त्र विषय है। उसका कोई उद्देश्य है। उसमें कोई पाप नहीं किन्तु उसको लेकर क्या भाई, भाई का खून करेगा ? उसी को लेकर महाराज गोविन्द माणिक्य का···। प्रभु, मैं आपके पैरों पड़कर पूछता हूँ। मुझे किंकर्त्तव्यविमूढ़ न बनाइएगा। क्या वास्तव में माँ ने स्वप्न में कहा है कि राज-रक्त के बिना उसकी तृप्ति नहीं होगी ?'

रघुपति कुछ क्षण चुप रहकर बोले—'सत्य नहीं तो क्या असत्य

कह रहा हूँ ? क्या तुम मुझ पर अविश्वास करते हो ?'

जयसिंह ने रघुपति की चरण-धूलिका स्पर्श करके कहा—'गुरुदेव के प्रति मेरा विश्वास शिथिल नहीं। किन्तु नक्षत्र राय का भी तो राज-कुल ही में जन्म हुआ है ?'

रघुपति ने कहा—'देवताओं का स्वप्न इङ्गित-मात्र होता है। सारी बातें नहीं सुनी जा सकतीं। बहुत-सी बातें समझ ली जाती हैं। स्पष्ट ही देखा जा रहा है कि गोविन्द माणिक्य से देवी असन्तुष्ट हो उठी हैं। उनके असन्तोष के सभी कारण भी पैदा हो गये हैं। अतएव जब देवी राज-रक्त देखना चाहती हैं तो इससे यही समझना होगा कि गोविन्द माणिक्य का ही रक्त अभीष्ट है।'

जयसिंह ने कहा—'यह यदि सत्य है तो मैं ही राज-रक्त लाऊँगा। नक्षत्र राय को पाप में लिप्त नहीं होने दूँगा !'

रघुपति—'देवी की आज्ञा पालन करने में कोई भी पाप नहीं।'

जयसिंह—'पुण्य तो है प्रभु ! वह पुण्य मैं ही उपार्जन करूँगा।'

रघुपति—तभी तो तुम्हें सत्य का पालन करने को कहता हूँ, वत्स ! मैं तुम्हें बचपन से ही, पुत्र से भी बढ़कर, यत्नपूर्वक, प्राणों से भी अधिक प्यार कर पालन करता आया हूँ। मैं तुम्हें खोऊँगा नहीं। नक्षत्र राय यदि गोविन्द मणिक्य का वध करके राजा हो जाय तो कोई उसे एक बात भी नहीं कहेगा किन्तु यदि तुम राजा के शरीर पर हाथ उठाओगे तो फिर मैं तुम्हें वापस नहीं पा सकूँगा।'

जयसिंह ने कहा—'मेरा स्नेह ! पिता, मैं तो एक तुच्छ प्राणी हूँ। मेरे स्नेह में आप एक पिपीलिका की भी हत्या नहीं कर सकेंगे ! मेरे स्नेह के कारण यदि आप पाप में लिप्त हों तो आपके उस प्रेम का मैं अधिक दिनों तक उपभोग न कर सकूँगा, उस स्नेह का परिणाम कभी भी अच्छा न होगा।'

रघुपति ने तुरन्त कहा—'अच्छा, अच्छा, यह बात फिर होगी। कल नक्षत्र राय के आने पर जो कुछ होगा उसकी व्यवस्था की जायगी।'

जयसिंह ने मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर ली कि मैं ही राज-रक्त लाऊँगा। माँ के नाम पर या गुरुदेव के नाम पर भ्रातृ-हत्या नहीं होने दूँगा।

सातवाँ परिच्छेद

जयसिंह को सारी रात नींद नहीं आई। गुरु के साथ जिस पर आलोचना हुई थी, देखते-देखते उसकी शाखा-प्रशाखा फूटने लगी। अधिकांश समय में कार्य का आरम्भ हम लोगों के अधीन होता है, पर उसका फल हमारे अधीन नहीं। चिन्ता के सम्बन्ध में भी यही बात घटित होती है। इस प्रकार सारी बातें अनिवार्य वेग से जयसिंह के मन में उठने लगीं जो उसके शैशवकाल-पर्यन्त विश्वास की जड़ को लगातार हिलाने लगीं। जयसिंह का दुःख क्रमशः बढ़ने लगा।

किन्तु बुरे स्वप्न की तरह भावना कुछ भी कम नहीं होना चाहती। जिस देवी को जयसिंह इतने दिनों से 'माँ' समझता आ रहा था, गुरुदेव ने आज कैसे उसके मातृत्व का अपहरण कर लिया और किस प्रकार 'हृदय-हीन' शक्ति कहकर उसकी व्याख्या की है। 'शक्ति' के सन्तोष अथवा असन्तोष से ही क्या? शक्ति को नेत्र या कान ही कहाँ है। शक्ति तो बहुत बड़े रथ के समान अपने सैकड़ों पहियों के नीचे संसार को कुचलकर घर्र-घर्र शब्द करती चली जा रही है। उसका सहारा लेकर कौन चला है, उसके नीचे पड़कर कौन चूर्ण हुआ है, उसके ऊपर उठकर कौन आनन्द मना रहा है, और उसके नीचे पड़कर कौन अन्तरनाद कर रहा है, उसकी यह बात कौन जाने। उसका सारथी कोई नहीं है। पृथ्वी के निरीह, असहाय एवं भीरु-प्राणियों के रक्तपात से कालरूपिणी निष्ठुर शक्ति की प्यास बुझाना—क्या यही हमारा कर्त्तव्य है? क्यों? वह तो अपना कार्य स्वयं कर रही है। उसके पास दुर्भिक्ष है, जल-प्रलय है, भूकम्प है, जलाकर भस्म कर देनेवाला अग्नि-दाह है और निर्दय मानव

के हृदय में स्थित हिंसा, फिर उसको हम छोटे लोगों की आवश्यकता ही क्या ?'

दूसरे दिन का प्रभात अत्यन्त मनोरम था। वर्षा बन्द हो गई थी। चारों ओर कहीं भी बादल नहीं थे। सूर्य की किरणें वर्षा के जल में धुल कर स्वच्छ एवं स्निग्ध हो गई थीं। वर्षा की बूँदें सूर्य की किरणों के पड़ने से दसों दिशाओं में झलमला रही थीं। शुभ्र-सुहावनी प्रभा आकाश में, मैदान में, वन में एवं नदी के प्रवाह में, विकसित शुभ्र कमल की तरह प्रस्फुटित हो उठी थी। नीलाकाश में चीलें उड़ रही थीं और इन्द्र-धनुष के तोरण के नीचे से बग-पंक्ति उड़ती चली जा रही थी। गिलहरियाँ एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर उछल-कूद कर रही थीं। एक-आध अत्यन्त डरपोक खरगोश चकपका कर झाड़ी से निकलकर पुनः छिपने की जगह खोज रहे थे। बकरी के बच्चे अत्यन्त दुर्गम पहाड़ों पर चढ़कर घास चर रहे थे और गायें आज महान् प्रसन्नता में दूर्वा हुई मैदान में बिखरी पड़ी थीं। चरवाहे गीत गा रहे थे। अपनी माता के कमर पर स्थित घड़े के बगल में आँचल पकड़े लड़के-लड़कियाँ आज बाहर निकली थीं। वृद्ध-जन पूजा के लिए फूल तोड़ रहे थे तथा आज स्नानार्थ बहुत-से लोग नदी पर एकत्रित हुए थे। वे कलकल स्वर में बातचीत कर रहे थे। नदी की कलकल ध्वनि को भी आज विश्राम नहीं। आषाढ़ के प्रभात में, इस जीवमयी एवं आनन्द से परिपूर्ण पृथ्वी की ओर देखकर तथा एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर जयसिंह ने मन्दिर में प्रवेश किया।

जयसिंह ने प्रतिमा की ओर देखा और हाथ जोड़कर कहा—'माँ, आज इतनी अप्रसन्न क्यों हो ? एक दिन जो तुमने अपने जीवों का रक्त नहीं देख पाया—इसी कारण ऐसी भ्रू भंगिमा ! मेरे हृदय में झाँककर देखो माँ, क्या भक्ति का कुछ अभाव देख रही हो ? भक्त का हृदय पाने मात्र से ही क्या तुम्हारी तृप्ति नहीं होती ? निरपराधियों का रक्त चाहिए ? अच्छा माँ सत्य कहो तो—पुण्यात्मा गोविन्द माणिक्य को पृथ्वी से उठाकर यहाँ पर राक्षसों का राज्य स्थापित करना ही क्या तुम्हारा अभिप्राय

है ? तुम्हारे मुख से उत्तर न पाने पर किसी भी प्रकार राज्य-हत्या नहीं होने दूँगा । मैं विघ्न डालूँगा । कहो—हाँ, या नहीं ।'

सहसा उस निर्जन मन्दिर में शब्द हुआ 'हाँ ।'

जयसिंह ने चौंककर पीछे देखा पर किसी को न पाया । मन ने आया जैसे कोई परछाईं की तरह पीछे हिल उठा हो । स्वर को सुनकर सर्वप्रथम उसके मन में हुआ जैसे गुरुदेव का कण्ठ-स्वर हो । फिर मन में विचार आया कि देवी ने गुरु-देव के कण्ठ-स्वर में ही उसको आदेश दिया है यही बात सम्भव है ! उसका शरीर रोमांचित हो उठा । वह प्रतिमा को प्रणाम करके शस्त्र-सहित बाहर चला आया ।

आठवाँ परिच्छेद

गोमती नदी के दक्षिण दिशा की ओर एक स्थान पर किनारा खूब ऊँचा था । वर्षा की धारा तथा छोटे-छोटे स्रोतों ने उस ऊँची भूमि को अनेक गुहा-गह्वरों में विभक्त कर रक्खा था । इससे कुछ दूरी पर प्रायः अर्धचन्द्राकार रूप से बड़े-बड़े शाल तथा खम्भारि के वृक्षों ने इस शतधा विदीर्ण भूमि खण्ड को घेर लिया था किन्तु बीच के भूमिखण्ड में एक भी बड़ा वृक्ष न था । केवल स्थान स्थान पर टीलों के ऊपर छोटे-छोटे शाल के पेड़ बढ़ नहीं पाये थे और टेढ़े होकर काले पड़ गये थे । पत्थर बहुत अधिक फैले हुए थे । एक-दो हाथ लम्बे छोटे-छोटे जलस्रोत सैकड़ों टेढ़े-मेढ़े रास्तों से घूम-फिर कर, एक दूसरे में मिलकर तथा फिर विभक्त होकर नदी में जाकर मिल गये थे । यह स्थान अत्यन्त निर्जन था । इस जगह पर आकाश पेड़ों से अवरुद्ध नहीं था । इस स्थान से गोमती नदी तथा उसके दूसरे किनारे के विचित्र ढङ्ग के अन्न के खेत बहुत दूर तक दिखाई पड़ रहे थे ।

प्रतिदिन प्रातःकाल महाराज गोविन्द माणिक्य इस स्थान पर घूमने आया करते थे । साथ में न तो कोई साथी आता न कोई अनुचर । ६ भा-

कभी गोमती में मछली पकड़ने के लिए आये हुए मल्लाह दूर से दिखाई पड़ते थे। सौम्य-मूर्ति राजा योगी की तरह स्थिर भाव से नेत्रों को बन्द किये बैठे रहते थे, उनके मुख पर प्रभात की ज्योति है या उनकी आत्मा की आभा—यह समझ में नहीं आता। आज-कल वर्षा के दिनों में वे प्रतिदिन इस स्थान पर तो नहीं आ पाते किन्तु वर्षा बन्द रहने पर जिस दिन आते उस दिन छोटे ताता को भी साथ में ले आते थे।

अब ताता को 'ताता' कहने का जी नहीं चाहता। एक देव जिसके मुख से 'ताता' का सम्बोधन अच्छा लगता था वह तो अब है नहीं। पाठक के समक्ष भी अब 'ताता' शब्द का कोई अर्थ नहीं। किन्तु हासि जब सबेरे के समय शरारत करके शाल-वन में पेड़ों के पीछे छिपकर मधुर एवं तेज आवाज से 'ताता' कह कर पुकारती तथा उसकी प्रतिध्वनि सारे वन-प्रान्त में व्याप्त हो जाती तब उस समय वह 'ताता' शब्द अर्थयुक्त होकर वन-प्रदेश को व्याप्त कर लेता था। उस समय 'ताता' सम्बोधन एक बालिका के छोटे हृदय के अति कोमल स्नेह-नीड़ को छोड़कर पक्षी के समान स्वर्ग की ओर उड़ जाता। तब वही स्नेह से प्लावित मधुर सम्बोधन प्रभात के समस्त पक्षियों के कलरव-गान को लूट लेता। प्रातः प्रकृति के आनन्दमय सौन्दर्य के साथ छोटी बालिका के आनन्दमय-स्नेह का ऐक्य दिखाई देता।

इस समय वह बालिका नहीं है। बालक तो है पर 'ताता' नहीं। यह बालक संसार के सैकड़ों लोगों का सैकड़ों विषय बन सकता है परन्तु 'ताता' तो एक मात्र उस बालिका का ही था। महाराज गोविन्द माणिक्य इसे बालक ध्रुव पुकारते थे अतः हम भी अब उसे ध्रुव ही कहेंगे।

महाराज पहले अकेले ही गोमती के किनारे आते पर कुछ दिनों बाद ध्रुव को भी साथ में ले आने लगे। उसके पवित्र एवं सरल मुख की सुन्दरता में वे देव-लोक की प्रतिच्छाया देख पाते थे। दोपहर के समय राजा जब सांसारिक प्रसङ्गों में प्रविष्ट होते उस समय वृद्ध एवं विज्ञ मन्त्रिगण उन्हें घेर कर खड़े रहते तथा उनको परामर्श देते थे। प्रभात

होने पर एक बालक उनको संसार के बाहर ले आता। उसके दो बड़े-बड़े नेत्रों के सामने विषयों की समस्त कुटिलतायें संकुचित हो जातीं। उस समय बालक का हाथ पकड़े महाराज इस विश्व के मध्य में स्थित, अनन्त की ओर फैले हुए एक उदार सरल एवं विस्तृत राज-पथ पर पहुँच जाते। उस स्थान पर अनन्त नीलाकाश के चन्दोवा के नीचे स्थित विश्वब्रह्माण्ड की महासभा दिखाई पड़ती। भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक आदि सप्त लोगों के सङ्गीत का आभास सुनाई पड़ता। उस स्थान के सरल मार्ग पर सभी कुछ सरल, सहज एवं शोभायुक्त मालूम पड़ता, केवल अग्रसर होने का ही उत्साह होता। तीव्र भावनायें, चिन्तायें, व्याधि एवं अशान्ति सभी दूर हो जातीं। महाराज इसी प्रभात के समय, एकान्त वन में, नदी के किनारे, मुक्ताकाश के नीचे, एक बालक के स्नेह में निमग्न होकर अनन्त प्रेम-पथ को देख पाते थे।

गोविन्द माणिक्य ध्रुव को गोद में लेकर उसे पौराणिक ध्रुव की कथा सुनाया करते। ध्रुव कुछ अधिक समझ पाता हो ऐसी बात तो नहीं थी, तो भी राजा की इच्छा रहती कि उसके ही मुख से अटपटे स्वर में ही 'ध्रुव' की कथा फिर से सुनें।

कहानी सुनते-सुनते ध्रुव ने कहा—'मैं बन में जाऊँगा।'

राजा बोले—'बन में क्या करने जाओगे ?'

ध्रुव—'हयि' को देखने जाऊँगा।'

राजा—'हम लोग बन में ही तो हैं 'हरि' को देखने ही तो आये हैं।'

ध्रुव—'हयि' कहाँ है ?'

राजा—'यहीं तो है।'

ध्रुव ने फिर पूछा—'दीदी कहाँ है ?' इतना कहकर वह खड़ा हो गया और पीछे की ओर देखा। उसके मन में लगा मानो दीदी पहले की तरह पीछे से एकाएक उसके नेत्रों को मूँदने आ रही है परन्तु किसी को न पाकर, गर्दन झुका और नेत्रों को ऊपर उठाकर उसने पूछा—'दीदी कहाँ है ?'

राजा बोले—'हरि तुम्हारी दीदी को बुला ले गये हैं।'

ध्रुव ने कहा—'हयि' कहाँ है ?'

राजा ने फिर कहा—'वत्स, उनको पुकारो। वह भजन जो मैंने तुमको सिखा दिया था, गाओ।'

ध्रुव झूम-झूमकर तथा 'हरि' को सम्बोधित करके राजा द्वारा बताया गया भजन गाने लगा।

राजा द्वारा बताये गये उस भजन को उलट-पलटकर, आधी बात मुँह में और आधी बात का उच्चारण करके ध्रुव ने झूम-झूमकर अपने मधुर कण्ठ से उसको गाया जिसे सुनकर राजा का प्राण पुलकायमान हो उठा। प्रातःकालीन मधुरिमा द्विगुणित हो उठी और चारों ओर नदी, उपवन तथा तरुलतादि हँसने लगीं। सुवर्ण रङ्ग की सुधा से जलप्लावित नील-गगन में राजा को किसी की अनुपम सुन्दर एवं रहस्य-युक्त मुख की शोभा दिखाई पड़ी। उनको मालूम पड़ा कि ध्रुव जिस प्रकार उनकी गोद में बैठा है, उसी प्रकार उनको भी मानो किसी ने बाहु-पाशों में बाँधकर गोद में उठा लिया है। उन्होंने अपने को, अपने चारों ओर सबको, तथा संसार के सम्पूर्ण जड़-तन को किसी की महान गोद में देखा। उनके आनन्द और प्रेम ने सूर्य की किरणों की तरह दसों-दिशाओं में विकीर्ण होकर आकाश को परिपूर्ण कर दिया।

इसी समय शस्त्रों से युक्त जयसिंह गुफा-मार्ग से होकर सहसा राजा के सम्मुख आकर खड़ा हो गया।

राजा उसकी ओर दोनों हाथ फैलाकर बोले—'आओ जयसिंह, आओ!' उस समय राजा बालक के साथ मिलकर बालक हो गये थे, उनकी राज-मर्यादा थी ही कहाँ!

जयसिंह ने पृथ्वी पर झुककर राजा को प्रणाम किया और कहा—'महाराज, एक निवेदन है।'

राजा—'क्या है, कहो न ?'

जयसिंह—'माँ आपसे अप्रसन्न हो गई हैं।'

राजा—'क्यों? मैंने उनके असन्तोष का कौन-सा कार्य किया है?'

जयसिंह—महाराज, बलिदान बन्द करके आपने देवी की पूजा में विघ्न डाला है।'

राजा बोल उठे—'क्यों जयसिंह, यह हिंसा की लालसा क्यों? माता की ही गोद में उसी की ही सन्तान का रक्त-पात करके तुम उसे प्रसन्न करना चाहते हो?'

जयसिंह धीरे-धीरे राजा के पैरों के पास बैठ गये। ध्रुव उनकी तलवार लेकर खेलने लगा।

जयसिंह ने कहा—'क्यों महाराज, शास्त्रों में बलिदान की व्यवस्था तो है?'

राजा बोले—'शास्त्रों का विधि-पूर्वक कौन पालन कर सकता है? सभी अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार उसकी व्याख्या करते रहते हैं। जिस समय देवी के सामने बलिदान का कीचड़-युक्त रक्त सारे शरीर में पोतकर सभी जोर-जोर से चिल्लाते तथा भयङ्कर उल्लास से आँगन में नाचते रहते हैं, उस समय क्या वे माता की पूजा करते हैं? न, उनके हृदय में जो हिंसा रूपिणी राक्षसी निवास करती है उसी राक्षसी की ही पूजा करते हैं। हिंसा के निमित्त बलिदान देना शास्त्रों का नियम नहीं बल्कि हिंसा की बलि चढ़ाना ही शास्त्रों की विधि है।'

जयसिंह कुछ देर तक चुप रहे। कल रात से ही उनके मन में भी इसी प्रकार के अनेक विचारों ने उथल-पुथल मचा रक्खा है।

अन्त में जयसिंह ने कहा—'मैंने माँ के ही मुख से सुना है और इस विषय में कोई संशय भी नहीं हो सकता। उन्होंने स्वयं कहा है कि वे महाराज का रक्त चाहती हैं।' इतना कहकर जयसिंह से प्रातःकाल वाली मन्दिर की घटना राजा को सुना दी।

राजा ने हँसकर कहा—'यह तो माता की आज्ञा नहीं, रघुपति का आदेश था। रघुपति ने आड़ से तुम्हारी बातों का उत्तर दे दिया था।'

राजा के मुख से इस बात को सुनकर जयसिंह एकाएक चौंक पड़े। उनके मन में भी इसी प्रकार संशय एक बार उठा था किन्तु फिर बिजली के समान लुप्त हो गया। राजा की बात से वह सन्देह पुनः जागृत हो उठा।

जयसिंह अत्यन्त कातर होकर बोले—'नहीं, महाराज, मुझे क्रमेशः अधिक संशय की ओर न ले जाइए, मुझे किनारे से ढकेल कर समुद्र में न फेंकिए। आपकी बात से मेरे चारो ओर केवल अन्धकार-ही-अन्धकार बढ़ रहा है। मेरा जो विश्वास और जो भक्ति थी वही रहे। उसके बदले में मुझे यह अनिश्चितता नहीं चाहिए। माँ का आदेश हो अथवा गुरु का, दोनों एक ही बात है। मैं अवश्य पालन करूँगा।'

इतना कहकर जयसिंह ने झटपट तलवार निकाल ली। तलवार सूर्य के प्रकाश में बिजली की तरह चमचमा उठी। इसे देखकर ध्रुव जोर से रो पड़ा। उसने अपने छोटे-छोटे हाथों से राजा को जकड़ लिया और खूबी चिपक गया। राजा ने भी जयसिंह की ओर ध्यान न देकर ध्रुव को ही हृदय से चिपका कर पकड़ लिया।

जयसिंह ने तलवार दूर फेंक दी। उसने ध्रुव की पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—'कोई डर नहीं बेटा, कोई डर नहीं। मैं अभी चला। तुम इसी महान् आत्मा के आश्रय में विश्राम करो, इसी विशाल वक्षस्थल पर निवास करो। तुमको कोई भी विलग नहीं करेगा! इतना कहकर तथा राजा को प्रणाम करके जयसिंह जाने को उद्यत हुए।

सहसा फिर न जाने क्या सोचकर लौट पड़े और बोले—'महाराज को सावधान किये देता हूँ। आपके भाई नक्षत्र राय ने आपके वध के लिए राय-घात की है। आषाढ़ सुदी चतुर्दशी के दिन—चौदह देवताओं की पूजा की रात्रि को आप सतर्क रहिएगा।'

राजा ने हँसकर कहा—'नक्षत्र किसी भी प्रकार मेरा वध नहीं कर पायेगा। वह मुझे बहुत प्यार करता है।'

जयसिंह बिदा लेकर चले गये।

राजा ने ध्रुव की ओर देखकर भक्ति-भाव से कहा—'आज तुमने ही रक्त-पात होने से पृथ्वी की रक्षा की है। इसी उद्देश्य से ही तुम्हारी दीदी तुम्हें छोड़ गई है।' इतना कहकर राजा ने ध्रुव के अश्रु से भीगे हुए कपोलों को पोंछ दिया।

ध्रुव ने गम्भीरतापूर्वक कहा—'दीदी कहाँ है?'

इस समय बादलों ने सूर्य को ढक लिया था। नदी के ऊपर काली छाया पड़ रही थी। दूर का जंगल भी बादलों की ही तरह काला हो उठा। वर्षा के लक्षण देखकर राजा महल को लौट आये।

नवाँ परिच्छेद

मन्दिर अधिक दूर नहीं था किन्तु जयसिंह निर्जन नदी का किनारा पकड़े धीरे-धीरे मन्दिर की ओर चले जा रहे थे। उनके मन में तीव्र भावनायें उठने लगीं। वे एक स्थान पर नदी के किनारे वृक्ष के नीचे बैठ गये। दोनों हाथों से मुँह ढककर सोचने लगे—मैंने एक ऐसा काम कर लिया है नहीं तो मेरा संशय दूर नहीं होता। अब पुनः मेरा संशय कौन दूर करेगा? कौन-सा कार्य अच्छा है और कौन-सा बुरा, इसे मुझे कौन बतावेगा? इस संसार के करोड़ों मोह-युक्त रास्ते पर खड़ा होकर मैं किसी से पूछूँगा कि कौन-सी राह ठीक है? इस विश्व के मैदान में मैं अन्धा और अकेला खड़ा हूँ, आज मेरी लकड़ी भी टूट गई है।

जयसिंह जब उठे उस समय वर्षा प्रारम्भ हो चुकी थी। वे वर्षा में भीगते हुए मन्दिर की ओर चले। उन्होंने देखा कि एक वृहत् जन-समूह कोलाहल करता हुआ दल बाँधे मन्दिर की तरफ से चला आ रहा है।

बूढ़े ने कहा—'मैं तो यही जानता हूँ कि बाप-दादों के समय से ऐसा ही होता आ रहा है। आज राजा की बुद्धि को क्या हो गया है, कि पूर्वजों की सभी बातों को छोड़ बैठे हैं।'

युवक ने कहा—'अब मन्दिर में आने की इच्छा नहीं होती। पूजा

में अब धूम-धाम नहीं।'

कोई बोला—'मानो नवाबी हो गई है।' उसके कहने का तात्पर्य यह था कि बलिदान के सम्बन्ध में आगा-पीछा करने की मनोवृत्ति यदि एक मुसलमान में उत्पन्न हो तो ठीक भी है पर एक हिन्दू के मन में इसका पैदा होना आश्चर्य-जनक है।

लड़की कहने लगी—'अब इस राज्य का कल्याण नहीं होगा।'

एक मनुष्य ने कहा—'पुजारी जी ने तो खुद कहा है, कि माँ ने उन्हें स्वप्न दिया था कि तीन महीने में ही यह देश महामारी से उजड़ जायगा।'

हारू बोला—'देखते क्यों नहीं? माधो आज डेढ़ साल से बीमारी भोगता हुआ बराबर बचता चला आ रहा है। जहाँ यह बलि बन्द हुई कि वह मरा।'

शान्ता बोली—'इतना ही क्यों? मेरा भतीजा मर जायगा, यह कौन जानता था। ज्योंही वैद्य जी की गोली खाई त्योंही आँखें उलट गईं।' भतीजे के शोक एवं राज्य के अमङ्गल की आशङ्का से शान्ता कातर हो उठी।

तिनकौड़ी ने कहा—'उस दिन मथुरहाटगञ्ज में आग लग गई, एक छप्पर तक न बचा।'

कृषक चिन्तामणि ने अपने साथी एक किसान से कहा—'इतनी-सी बात से क्या? देखते क्यों नहीं, इस साल धान की जितनी सस्ती है उतनी दूसरे किसी साल नहीं थी। भाई, इस साल किसानों के सिर क्या बीतेगी, कौन जाने?'

बलिदान बन्द हो जाने के बाद तथा उसके पहले भी जिसको जो कुछ भी हानि हुई थी उसका प्रधान कारण बलि का बन्द होना ही सर्व-सम्मति से स्वीकृत हो गया। इस देश को छोड़ कर चला जाना ही योग्य है—यह सब की राय हो गई। मत में कोई परिवर्तन तो नहीं हुआ, पर हाँ, वे रहते थे इसी देश में।

जयसिंह अन्यमनस्क थे। इन सारी बातों की ओर कुछ भी ध्यान

न देकर वे मन्दिर में चले गये। उन्होंने देखा कि पूजा समाप्त करके रघुपति मन्दिर के बाहर बैठे हैं।

जयसिंह ने शीघ्रता से रघुपति के समीप जाकर, कातर पर दृढ़ स्वर में पूछा—'गुरुदेव, माता का आदेश पाने के लिए आज प्रातःकाल जब मैंने माँ से प्रश्न पूछा था तो क्या आपने उसका उत्तर दिया था?'

रघुपति ने कुछ हिचकिचा कर कहा—'माँ मेरे ही द्वारा तो अपने मत का प्रचार करती हैं। वह अपने मुँह से कुछ भी नहीं कहतीं।'

जयसिंह बोले—'तो आपने प्रत्यक्ष होकर क्यों नहीं कहा? आड़ में छिपकर मुझसे कपट क्यों किया आपने?'

रघुपति ने क्रोधित होकर कहा—'चुप रहो! मैं क्या सोचता हूँ और क्या करता हूँ—इसे तुम क्या समझो? मुँहफट की तरह जो कुछ मुँह में आया उसे मत कहा करो। मैं जो आज्ञा दूँ तुम्हें केवल उसका पालन करना होगा। इसके विषय में प्रश्न करने का अधिकार तुम्हें नहीं।

जयसिंह चुप रहे। उनका संशय बढ़ता ही गया, कम नहीं हुआ। वे कुछ देर के बाद बोले—'आज प्रातःकाल मैंने माँ से कहा था कि यदि वह मुझे आज्ञा न देगी तो मैं किसी प्रकार राज-हत्या नहीं होने दूँगा। उसमें विघ्न डालूँगा। जब मैंने भली-भाँति समझ लिया कि माँ ने आज्ञा नहीं दी है तो महाराज के निकट जाकर नक्षत्र राय का संकल्प बता देना पड़ा और मैंने उनको सावधान भी कर दिया है।'

रघुपति कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहे। उठते हुए क्रोध को दबाकर उन्होंने दृढ़ स्वर से कहा—'मन्दिर में चलो।'

दोनों मन्दिर में गये।

रघुपति ने कहा—'माँ के चरण छूकर शपथ लो कि आषाढ़ सुदी चतुर्दशी के बीच में ही राज-रक्त लाकर इन चरणों पर चढ़ाऊँगा।'

जयसिंह गर्दन नीची किये कुछ क्षण तक चुप रहे। फिर एक बार गुरु के मुँह की ओर और एक बार प्रतिमा की ओर देखा। मूर्ति का स्पर्श

करके धीरे-धीरे बोले—'आषाढ़ सुदी चतुर्दशी के बीच में ही राज-रक्त लाकर इन चरणों पर चढ़ाऊँगा।'

दसवाँ परिच्छेद

घर लौटकर महाराज ने नियमित राज-कार्य सम्पन्न किया। प्रातःकालीन सूर्य का प्रकाश लुप्त हो गया था। बादलों की छाया से दिन भी अन्धकार-मय हो गया था। महाराज अत्यन्त उदास थे। नक्षत्र राय प्रतिदिन राज-सभा में उपस्थित रहते पर आज वह नहीं थे। राजा ने उनको बुलवाया। उन्होंने उत्तर भेजा कि मेरी तबीअत ठीक नहीं है। राजा स्वयं नक्षत्र राय के कमरे में गये। नक्षत्र राय अपना मुख उठकर राजा की ओर देखने में असमर्थ रहे। एक लिखे हुए कागज को लेकर उन्होंने अपनी व्यस्तता प्रकट की। राजा बोले—'कैसे बीमार हो गये नक्षत्र?'

नक्षत्र राय ने कागज को उलटते-पलटते हुए अपनी अँगुलियों की ओर देखकर कहा—'बीमारी, नहीं, बीमारी तो नहीं। यही एक-आध काम था, हाँ हाँ, बीमारी तो हुई है—कुछ बीमार की तरह ही तो······।'

नक्षत्र राय अत्यन्त अधीर हो गये। गोविन्द माणिक्य बहुत ही दुःखित होकर नक्षत्र राय के मुँह की ओर देखते रहे। वे सोचने लगे—'ओह, स्नेह के घर में हिंसा घुस आई है। वह सर्प की तरह छिपना चाहती है, मुँह दिखाना नहीं चाहती। हमारे जंगलों में क्या हिंसक पशुओं की कमी हो गई? क्या अब मनुष्य, मनुष्य से भी भयभीत होगा? भाई, भाई के पास निशंकित होकर न बैठ पायेगा? इस संसार में क्या हिंसा इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है कि स्नेह और प्रेम को कहीं स्थान नहीं। नक्षत्र मेरा भाई है। मैं सदैव ही इसके साथ इसी महल में रहता हूँ, हम दोनों नित्य एक ही आसन पर बैठते रहे हैं, हँस-हँस कर आपस में बातें होती आई हैं, पर आज यह भी हमारे समीप रहता हुआ

अपने मन में कपट की छुरी तेज कर रहा है।'

उस समय महाराज गोविन्द माणिक्य के लिए यह संसार हिंसक जन्तुओं से भरे हुए जङ्गल के समान प्रतीत होने लगा। चारों ओर घोर अन्धकार उन्हें केवल दाँतों और नखों के ही दृश्य दिखाई पड़ने लगे। दीर्घ निःश्वास छोड़कर महाराज ने अपने मन में सोचा कि इस स्नेह एवं प्रेम-रहित तथा मार-काट से परिपूर्ण राज्य में जीवित रहकर मैं अपने कुटुम्ब के लोगों और अपने इस भाई के मन में केवल हिंसा का लोभ तथा द्वेषाग्नि ही प्रज्वलित कर रहा हूँ। मेरे सिंहासन के चारों ओर स्थित मेरे प्राणों से भी अधिक आत्मीय लोग मुझे देखकर भीतर-ही-भीतर मुँह टेढ़ा कर रहे हैं, दाँत पीस रहे हैं तथा जंजीर में बँधे हुए कुत्तों के समान चारों ओर से मेरे ऊपर झपट पड़ने के लिए अवसर ढूँढ़ रहे हैं। इनके तेज पंजों के आघात से छिन्न-भिन्न होकर इनकी रक्त-पिपासा मिटाने की अपेक्षा इस स्थान को छोड़ देना ही योग्य है। प्रातःकालीन आकाश में गोविन्द माणिक्य ने जिस प्रेम-कवि का दर्शन किया था वह न जाने कहाँ विलीन हो गई।

महाराज ने खड़े होकर गम्भीरतापूर्वक कहा—'आज दोपहर के बाद केवल हम दोनों गोमती नदी के निर्जन वन-प्रदेश में घूमने चलेंगे।'

राजा के इस गम्भीर आदेश के विरुद्ध नक्षत्र राय के मुख से एक बात भी न निकली किन्तु संशय तथा आशंका से उनका मन व्यग्र हो गया। उनको ऐसा आभास हुआ कि महाराज अब तक चुपचाप अपने दोनों नेत्रों को उनके मन में गड़ाये हुए थे। वहाँ पर अज्ञान के गढ़े में जो भावनायें कीटाणुओं की भाँति कलमला रही थीं वे मानो प्रकाश पाने पर छटपटा कर बाहर हो आईं। नक्षत्र राय ने भयपूर्वक एक बार राजा की ओर आँखें उठाईं। उन्होंने देखा—राजा के मुख पर केवल अत्यन्त गम्भीर वेदनायुक्त शान्ति-भाव, क्रोध की रेखा तक नहीं। मानव-मन की कठोरता को देखकर केवल अत्यन्त गम्भीर शोक ही उनके हृदय में निवास कर रहा था।

समय हो गया। उस वक्त भी बादल थे। नक्षत्र राय को साथ लेकर महाराज पैदल ही जंगल की ओर चले। अभी भी सन्ध्या होने में देर थी किन्तु बादलों की कालिमा के कारण सन्ध्या का भ्रम हो रहा था। कौवे जंगल में वापस आकर लगातार काँव-काँव कर रहे थे किन्तु तब भी एक-दो चीलें आकाश में चक्कार लगा रही थीं।

जब दोनों भाई इस सुनसान जङ्गल में घुसे, उस समय नक्षत्र राय का शरीर झन्-झन् करने लगा। बड़े-बड़े पुराने पेड़ एक दूसरे से सटकर खड़े थे। वृक्ष कुछ बोलते तो नहीं किन्तु स्थिरतापूर्वक मानो वे कीटाणुओं की पदध्वनि तक सुनते, केवल अपनी छाया की ओर अपनी जड़ में पड़ते हुए अन्धकार में आँखें गड़ाये रहते। उस जङ्गल में घनी हरियाली के भीतर पैर रखते हुए नक्षत्र राय के कदम मानो रुक जाते। जङ्गल में चारों ओर केवल सन्नाटा देखकर उनका हृदय धड़कने लगा। उनके मन में घोर सन्देह और भय उत्पन्न हुआ। निष्ठुर-भाग्य की तरह शान्त राजा इस सन्ध्याकाल में, इस जगत् से दूर उनको कहाँ ले जा रहे हैं—इसको वह कुछ भी स्थिर न कर पाये। उन्होंने अपने मन में निश्चित कर लिया कि अब तो पकड़ गया हूँ तथा कठिन-से-कठिन दण्ड देने के लिए ही राजा इस जङ्गल में ले आये हैं। नक्षत्र राय एक साँस में भागकर बच सकते थे परन्तु उनके मन में आया मानो राजा उनके हाथ-पाँव बाँधकर खींचे लिये जा रहे हैं। इससे बचने का कोई दूसरा उपाय नहीं।

जङ्गल के बीच कई खुले स्थान हैं। एक जलाशय भी है जो वर्षा के जल से परिपूर्ण है। उसी जलाशय के किनारे सहसा घूमकर राजा खड़े हो गये और बोले—'ठहरो!'

नक्षत्र राय चौंककर खड़े हो गये। उनके मन में उठने लगा कि राजा का आदेश सुनकर मानो समय की गति अवरुद्ध हो गई। उसी क्षण ही मानो जङ्गल के वृक्ष जहाँ पर थे वहीं सिर झुकाकर खड़े रहे। पृथ्वी और आकाश मानो साँस रोककर चुपचाप देखने लगे। कौवों का शोर-गुल बन्द

हो गया। घोर निस्तब्धता छा गई। केवल 'ठहरो' शब्द ही क्षण-क्षण पर गूँजने लगा। वही 'ठहरो' शब्द विद्युत्-धारा की तरह प्रत्येक वृक्ष एवं शाखा-प्रशाखाओं तक प्रवाहित होने लगा। जङ्गल का पत्ता-पत्ता उस शब्द कम्पन के कारण मानो रीं-रीं करने लगा। नक्षत्र राय भी मानो उन वृक्षों के समान ही शान्त होकर खड़े हो गये।

उस समय राजा ने नक्षत्र राय के मुख पर एक मर्मभेदी स्थिर एवं विषण्ण दृष्टि जमा कर अत्यन्त गम्भीर वाणी में धीरे-धीरे कहा—'नक्षत्र, तुम मुझे मारना चाहते हो ?'

नक्षत्र राय वज्राहत के समान खड़े रहे। वे उत्तर देने का प्रयास तक न कर सके।

राजा ने फिर कहा—'क्यों मारोगे भाई ? राज्य के लोभ से ? तुम समझते हो कि केवल सोने का सिंहासन, हीरे का मुकुट और राज्य-छत्र ही राज्य है ? इस मुकुट, इस राज्य-छत्र और इस राज्य-दण्ड का भार कितना दुःख है, जानते हो ? लाखों लोगों की चिन्तायें इस हीरे के मुकुट से ढँककर रखी हुई हैं। राज्य पाना चाहते हो तो हजारों लोगों के दुःख को अपना समझो, उनकी आपत्तियों को अपनी आपत्ति मानकर अपनाओ तथा उनकी दरिद्रता को अपनी दरिद्रता समझकर उनका भार वहन करो। जो ऐसा करता है वही राजा है। चाहे वह झोपड़ी में रहे या राज महल में, जो व्यक्ति सभी लोगों को हृदय से अपना समझने में समर्थ हो सकता है उसका ही सारा संसार है। इस पृथ्वी का दुःख जो दूर करे वही तो पृथ्वी का राजा है। जो पृथ्वी का रक्त और उसकी सम्पदा चूसता है वह तो है चोर। हजारों अभागे प्राणियों के आँसू रात-दिन उसके मस्तक पर बरसते रहते हैं। उस अभिशाप के प्रवाह से कोई भी राज-छत्र उसकी रक्षा नहीं कर सकता। उसके प्रचुर राज्योपभोगों में सैकड़ों उपवासी लोगों की भूख अन्तर्हित है। अनाथों की दरिद्रता को गला कर ही वह सोने के अलंकार धारण कर पाता है। पृथ्वी को स्पर्श करनेवाले उसके राजसी कपड़ों में सैकड़ों शीत पीड़ितों की गुदड़ियाँ भरी पड़ी हैं। राजा को मारकर राजत्व

नहीं मिल सकता भाई, संसार को वश में करने पर ही राजा बना जा सकता है।'

गोविन्द माणिक्य कहते-कहते रुक गये। चारों ओर एकदम सन्नाटा छा गया। नक्षत्रराय सिर नीचा किये चुपचाप बैठे रहे।

महाराज ने म्यान से तलवार निकाली और नक्षत्रराय के सामने रखकर बोले—'भाई, यहाँ कोई नहीं है, कोई गवाह भी नहीं। यदि भाई अपने ही भाई के सीने में छुरी मारना चाहे तो उस कार्य के लिए यही स्थान उपयुक्त है और यही समय भी। यहाँ पर तो न कोई तुम्हें रोकेगा न तुम्हारी निन्दा ही करेगा। तुम्हारी तथा मेरी धमनियों में एक ही रक्त, एक ही पिता और पितामह का रक्त—प्रवाहित हो रहा है। यदि तुम इस रक्त को बहाना चाहते हो, बहाओ, किन्तु यह कार्य तुम नगर में न करना क्योंकि जहाँ यह रक्त-बिन्दु गिरेगा वहाँ पवित्र भ्रातृ-स्नेह-बन्धन अनायास ही शिथिल हो जायगा। पाप का अन्त कहाँ होगा, कौन जाने? पाप का एक भी बीज जहाँ गिरता है वहाँ देखते-ही-देखते अनजान में कैसे हजारों पाप-वृक्ष उत्पन्न हो जाते हैं, तथा किस प्रकार धीरे-धीरे यह सुन्दर मानव-समाज एक जङ्गल के रूप में परिणत हो जाता है—इसे कोई नहीं समझ पाता। अतएव नगर तथा ग्राम में जहाँ निष्कपट भाव से अत्यन्त प्रेम-पूर्वक, भाई, भाई को गले लगाता है, उसी भाई के घर में, भाई का ही रक्तपात मत करना। इसी कारण मैं आज तुम्हें इस जङ्गल में बुला लाया हूँ।'

इतना कहकर राजा ने नक्षत्र राय के हाथ में तलवार दे दी। नक्षत्र राय के हाथ से छूटकर तलवार पृथ्वी पर गिर पड़ी। वे दोनों हाथों से मुँह ढँक कर रो पड़े और भरे हुए गले से बोले—'भइया, मैं दोषी नहीं हूँ यह बात कभी भी मेरे मन में नहीं उठी थी।'

राजा ने उनको गले से लगाकर कहा—'मैं यह भली-भाँति जानता हूँ। भला तुम कभी मेरा वध कर सकते हो? तुमको किसी ने बहका दिया है।'

नक्षत्र राय—'मुझको तो रघुपति ने ही यह उपदेश दिया है।'

राजा—'रघुपति से दूर रहा करो।'

नक्षत्र राय—'बताइए, कहाँ जाऊँ? मैं यहाँ रहना नहीं चाहता, मैं तो यहाँ से—रघुपति के निकट से—भाग जाना चाहता हूँ!'

राजा—'तुम मेरे ही पास रहो। यदि और कहीं न जाओगे तो रघुपति तुम्हारा क्या कर लेगा?'

नक्षत्र राय ने राजा का हाथ दृढ़ता-पूर्वक पकड़ लिया।

रघुपति कहीं उनको खींच न लें—यह आशंका उनके मन में होने लगी।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

जब नक्षत्र राय राजा का हाथ पकड़े जङ्गल से घर लौट रहे थे उस समय भी आकाश में थोड़ा-थोड़ा उजाला बाकी था किन्तु जङ्गल में घोर अँधेरा छा गया था। ऐसा प्रतीत होता था मानो अन्धकार की बाढ़ आ गई हो। केवल वृक्षों की शिखायें ऊपर दिखाई दे रही थीं। जब क्रमशः वे भी डूब जायँगी तो अन्धकार से परिपूर्ण होकर आकाश और पृथ्वी एक हो जायँगे।

राज महल की राह न पकड़कर, राजा मन्दिर की ओर चले। मन्दिर की सन्ध्या आरती समाप्त करके, एक दीपक जलाये रघुपति और जयसिंह मन्दिर के बाहर बैठे थे। दोनों ही चुपचाप अपने-अपने विचारों में लीन थे। दीपक के क्षीण प्रकाश में केवल उन दोनों व्यक्तियों के मुख की छाया मात्र दिखाई पड़ रही थी। रघुपति को देखकर नक्षत्र राय मुँह न उठा सके। वे राजा के पीछे खड़े होकर पृथ्वी की ओर देखने लगे। राजा ने उनको समीप खींच लिया और जोर से उनका हाथ पकड़कर खड़े हो गये तथा आँखें गड़ाकर एक बार रघुपति की ओर देखा। रघुपति ने भी तीव्र दृष्टि से नक्षत्र राय की ओर कटाक्ष किया। अन्त में राजा ने रघुपति को प्रणाम किया। नक्षत्र राय ने भी वैसा ही किया। रघुपति ने प्रणाम स्वीकार करते हुए कहा—'जय हो, राज्य में कुशल तो है?'

राजा क्षण भर रुककर बोले—'आप आशीर्वाद दें तो राज्य में अमङ्गल नहीं हो सकता। इस राज्य में 'माँ' की सम्पूर्ण सन्तानें मानो सद्भाव और प्रेम से मिलकर रहती हैं। यहाँ भाई को भाई से कोई अलग नहीं कर सकता। जहाँ पर प्रेम है वहाँ हिंसा नहीं पनप सकती। राज्य के अमङ्गल की ही आशङ्का से तो आया हूँ। पापयुक्त सङ्कल्प की रगड़ से दावाग्नि उठ सकती है। कृपया उसे बुझाइए, शान्ति की वर्षा कीजिए तथा पृथ्वी भी शीतल बनाइए।'

रघुपति ने कहा—'देवता की क्रोधाग्नि भड़क उठने पर उसे भला कौन शान्त करेगा? एक अपराधी के निमित्त हजारों निरपराधी उस अग्नि में स्वाहा तो होते ही हैं।'

राजा बोले—'यही तो डर है, इसीलिए तो काँप रहा हूँ। यह बात समझाने पर भी तो कोई नहीं समझता। क्या आप नहीं जानते कि इस राज्य में देवताओं के नाम पर उन्हीं के नियमों का उल्लङ्घन किया जा रहा है? इसी कारण अमङ्गल की आशङ्का से आज सन्ध्या समय आया हूँ। इस स्थान पर पाप के वृक्ष को लगाकर, हमारे इस समृद्धशाली सुख के राज्य में आप देवताओं का प्रकोप आमन्त्रित न कीजिए। मैंने अब आपको सारी बातें बता दीं। केवल इसी को बताने के लिए ही मैं यहाँ आया था।'

इतना कहकर राजा ने अपनी मर्मभेदी दृष्टि रघुपति के मुख पर गड़ाई। राजा का अत्यन्त गम्भीर एवं दृढ़ शब्द तेज आँधी की तरह कुटी में प्रकम्पित हो उठा। रघुपति ने कोई उत्तर न दिया, केवल जनेऊ हाथ में फेरने लगे। राजा प्रणाम करके, नक्षत्र राय का हाथ पकड़े बाहर निकल आये। साथ-साथ जयसिंह भी बाहर चले आये। घर के भीतर रह गया—केवल एक दीपक, रघुपति और उनकी परछाईं।

उस समय तक आकाश अन्धकाराच्छन्न हो गया था। तारे बादलों में विलीन हो गये थे। आकाश में चारों ओर अन्धकार ही दृष्टिगोचर हो रहा था। उस घोर अन्धकार में चलती हुई पुरवा हवा में कहीं से कदम्ब

के फूलों की महक आ रही थी और जङ्गल में होनेवाले मर्र-मर्र शब्द सुनाई पड़ रहे थे। राजा भावनाओं में डूबे हुए, परिचित मार्ग द्वारा चले जा रहे थे : सहसा उन्होंने सुना कि पीछे से कोई पुकार रहा है—'महाराज !'

राजा ने मुड़कर पूछा—'कौन है ?'

परिचित वाणा ने उत्तर दिया—'आपका तुच्छ सेवक जयसिंह। महाराज आप मेरे गुरु हैं, हमारे मालिक हैं। आपको छोड़कर मेरा दूसरा कोई नहीं। जिस प्रकार आप अपने छोटे भाई का हाथ पकड़कर इस घोर अन्धकार से निकाले ले जा रहे हैं उसी प्रकार मेरे हाथ भी पकड़िए, मुझे भी साथ ले चलिए, मैं भी घोर अन्धकार में पड़ा हुआ हूँ, मेरा भला कैसे होगा और बुरा कैसे—यह कुछ भी नहीं जानता। मैं एक बार बायें जाता हूँ तो फिर दाहिने। मेरी जीवन-नैया का कोई खेवैया नहीं।'

उस घोर अन्धकार में आँसू टपकने लगे, कोई देख न पाया उसे। केवल जयसिंह के आवेग-पूर्ण एवं आर्द्र स्वर प्रकम्पित होकर राजा के कानों में प्रवेश करने लगे। चारो ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था। वायु चञ्चल समुद्र की तरह काँप उठी। राजा ने जयसिंह का हाथ पकड़कर कहा—'चलो, मेरे साथ महल को चलो।'

———

बारहवाँ परिच्छेद

दूसरे दिन जब जयसिंह मन्दिर में लौटे तब तक पूजा का समय बीत चुका था। रघुपति दुःखित होकर अकेले बैठे हुए थे। इसके पूर्व कभी भी ऐसा अनियमित कार्य नहीं हुआ था।

जयसिंह आकर गुरु के पास नहीं गये बल्कि अपने बगीचे में चले गये। वे अपने पौधों के बीच जाकर बैठ गये। उस समय वे पेड़-पौधे वायु के झकोरों में हिल रहे थे मानो वे जयसिंह के चारो ओर उन्हें रिझाने के लिए हिलने लगे, झुकने लगे और अपनी छाया का नृत्य करने लगे।

जयसिंह के चारो ओर फूलों से लदे हुए पल्लवों के समूह खड़े थे। सम्पूर्ण वाटिका श्यामलता में डूबी हुई थी। सुख पहुँचाने वाली वृक्षों की छाया मानो सुकोमल स्नेह की चाँदनी की तरह जयसिंह को आनन्द देने के लिए फैली हुई थी। अत्यन्त मधुर शब्द सुनाई पड़ रहे थे मानो कोई मधुर कण्ठ से पुकार रहा हो तथा प्रकृति अपने प्रेमपूर्ण आलिंगन से अलग ही शीतलता प्रदान कर रही थी। यहाँ पर सभी कुछ-न-कुछ अपेक्षा करते हैं, कोई कुछ प्रश्न नहीं पूछता। यहाँ कोई भावनाओं में ठोकर भी नहीं मारता। जो देखना चाहे देखे, चाहे जो बातचीत करे—इस पर यहाँ कोई प्रतिबन्ध नहीं। इस शान्तिदायिनी शुश्रूषा में प्रकृति के इस अन्तःपुर में बैठकर जयसिंह सोचने लगे। वे राजा द्वारा दिये गये उपदेश की आलोचना मन-ही-मन करने लगे।

इसी समय धीरे-धीरे आकर रघुपति ने उनकी पीठ पर अपना हाथ रक्खा। जयसिंह चौंक पड़े। रघुपति उनके समीप बैठ गये। वे जयसिंह की ओर देखकर लड़खड़ाती वाणी में बोले—'वत्स, तुम्हारे विचार ऐसे क्यों हो गये हैं ? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है कि तुम धीरे-धीरे मुझसे दूर होते जा रहे हो ?'

जयसिंह कुछ कहने ही जा रहे थे कि रघुपति बीच में फिर बोल उठे—'क्या तुमने क्षणभर के लिए भी मेरे स्नेह में कमी पाई ? मैंने कोई अपराध किया है, जयसिंह ? यदि किया है तो भी मैं तुम्हारा गुरु हूँ—तुम्हारे पिता के समान हूँ। मैं तुमसे क्षमा की भीख माँग रहा हूँ, मुझे क्षमा कर दो।'

जयसिंह वज्रपात के समान चौंक पड़े। वे गुरु का पैर पकड़कर रोने लगे और बोले—'पिता मैं कुछ भी नहीं जानता। मैं कुछ समझता तक नहीं। मैं कहाँ चला जा रहा हूँ—यह भी मुझे दिखाई नहीं पड़ रहा है।'

रघुपति ने जयसिंह का हाथ पकड़ कर कहा—'वत्स, मैं तुम्हें बचपन से ही पालता-पोसता आ रहा हूँ। पिता से भी अधिक यत्नपूर्वक मैंने

तुम्हें शास्त्र-शिक्षा दी है। तुम पर पूर्ण विश्वास करके मैंने मित्र की भाँति तुमको अपनी सभी मन्त्रणाओं में सहयोगी बनाया है। आज कौन तुमको मेरे पास से उठाये ले जा रहा है? इस चिर स्नेह एवं ममता के बन्धन को कौन छिन्न-भिन्न कर रहा है? तुम्हारे ऊपर हमारा जो ईश्वर-प्रदत्त अधिकार प्राप्त है उसमें कौन हस्तक्षेप कर रहा है? बोलो वत्स, उस महापापी का नाम तो बताओ।'

जयसिंह बोले—'प्रभु, आपके समीप से मुझे कोई भी विलग नहीं करता है। आपने ही मुझे दूर हटा दिया है। मैं घर में ही था, आपने ही तो सहसा मुझे घर से बाहर रास्ते पर फेंक दिया। आपने ही तो कहा कि कौन किसका पिता, कौन किसकी माता और कौन किसका भाई है? आपने ही तो कहा कि इस पृथ्वी पर कोई बन्धन नहीं, स्नेह और प्रेम का पवित्र अधिकार भी नहीं। मैं जिसको माता समझता था आपने ही तो उसे 'शक्ति' बताया। जहाँ पर लोग हिंसा करते हैं, जहाँ पर रक्त-पात करते हैं, जहाँ पर भाई-भाई में कलह होता है, जहाँ पर दो मनुष्यों में युद्ध होता है वहीं-वहीं तो यह पिपासाकुल 'शक्ति' रक्त की लालच से अपना खप्पर लिये खड़ी रहती है। आपने मुझे माँ की गोद से हटाकर, इस राक्षसी देश में क्यों निर्वासित कर दिया, प्रभु?'

रघुपति कुछ देर तक चकित होकर बैठे रहे। अन्त में वे दीर्घनिःश्वास छोड़कर बोले—'तब तुम पूर्ण स्वाधीन होकर बन्धन मुक्त होकर अपने ऊपर से मेरे सम्पूर्ण अधिकारों को हटा दो। यदि इससे तुम सुखी होते हो तो होओ।' इतना कहकर रघुपति उठने के लिए उद्यत हुए।

जयसिंह ने उनका पैर पकड़कर कहा—'नहीं, नहीं प्रभु, आप चाहे भले ही मुझे त्याग दें पर मैं आपको नहीं छोड़ सकता। आप रहें, मैं आपकी सेवा में ही रहूँगा। आपके मार्ग को छोड़कर मेरा कोई अन्य मार्ग नहीं।'

उस समय रघुपति ने जयसिंह को छाती से लगा लिया। उनके आँसू टप-टप करके जयसिंह के कन्धों पर गिरने लगे।

———

तेरहवाँ परिच्छेद

मन्दिर में बहुत-से लोग एकत्र हो गये थे। खूब कोलाहल मचा हुआ था। रघुपति ने रूखे स्वर से पूछा—'तुम लोग क्या करने आये हो?

वे सभी एक साथ बोल उठे—'देवी का दर्शन करने आये हैं।'

रघुपति ने फिर कहा—'देवी कहाँ हैं? वह तो इस राज्य को छोड़कर चली गई हैं। तुम लोगों में कोई देवी को रोक सका? वह चली गई।

बड़ी हलचल मच गई। चारो ओर से भिन्न-भिन्न प्रकार की बात सुनाई पड़ने लगीं।

'यह क्या बात है, पुजारी जी?'

'हम लोगों ने क्या अपराध किया था?'

'क्या माँ अब किसी भी तरह प्रसन्न नहीं होंगी?'

'मेरे भाई का लड़का बीमार था। इसी लिए कई दिनों से पूजा चढ़ाने न आ सका।' उसका दृढ़ विश्वास था कि उसकी ही अपेक्षा से रुष्ट होकर देवी ने देश छोड़ दिया है।'

'मैंने अपने दो बकरों को देवी के निमित्त बलि चढ़ाने को कहा था किन्तु घर दूर होने से न आ सका।' दोनों बकरों को देने में देर करने के कारण राज्य में जो ऐसा अमङ्गल हुआ है उसका विचार करके वह दुःखित हो उठा।

'गोवर्धन ने मनौती मानी थी वह तो माता को दिया नहीं और माँ ने भी उसे उचित ही दण्ड दिया है। उसकी तिल्ली बढ़कर भयङ्कर हो गई है। वह आज छः महीने से बिछौने पर पड़ा है। गोवर्धन अपने प्लीहा के कष्ट से चाहे चूल्हे में जाय पर माँ देश में रहें—यही वह मन-ही-मन विनती करने लगा। सभी अभागे गोवर्धन के प्लीहे के खूब बढ़ जाने की कामना करने लगे।

भीड़ में एक डीलडौल वाला आदमी था। उसने सबको डाँटकर चुप कराया और हाथ जोड़कर रघुपति से बोले—'पुजारीजी, माँ क्यों चली गईं? हम लोगों से क्या अपराध हुआ?'

रघुपति ने कहा—'तुम लोग माता के लिए एक बूँद भी रक्त नहीं दे सकते—यही तो है तुम लोगों की भक्ति!'

सभी चुप रहे। फिर कुछ बातचीत होने लगी। एक ओर कोई भुन-भुनाने लगा—'राजा ने मना किया है, तो हम लोग क्या करें?'

जयसिंह पत्थर की मूर्ति की तरह चुपचाप बैठे रहे। 'माता का निषेध'—यही बात बिजली की तरह उनकी जिह्वा पर आने लगी, किन्तु उन्होंने अपने को वश में रक्खा और कुछ भी न बोले।

रघुपति ने जोर से कहा—'राजा कौन होता है? क्या माता का महत्व राजसिंहासन से कम है। यदि है तो तुम लोग इस मातृहीन देश में अपने राजा को लेकर रहो। देखूँगा, तुम लोगों की रक्षा कौन करता है?'

जनता में गुनगुनाहट होने लगी। सभी सावधानी से बातचीत करने लगे।

रघुपति ने खड़े होकर फिर कहा—'तुम सबों ने राजा को ही बड़ा मानकर अपनी माता को राज्य से अपमानित करके विदा कर दिया है। सुख से रहने का मन में विचार किया है? तीन ही साल के बाद इतने बड़े राज्य में तुम लोगों की भीड़ का चिह्न तक न रहेगा। तुम लोगों के वंश में दीपक जलानेवाला भी कोई बाकी न रहेगा।'

जनता में होनेवाली समुद्र के समान गुनगुनाहट क्रमशः तीव्र होने लगी। धीरे-धीरे जन-समूह भी बढ़ने लगा। उस अपार जन-समूह ने हाथ जोड़कर रघुपति से कहा—'सन्तान यदि अपराध करती है तो माँ उसे दण्ड देती है। किन्तु सन्तान को एकबारगी छोड़कर चली जाय—ऐसा क्या कभी हुआ है? प्रभु, बताइए कि क्या करने से माँ पुनः लौट आवेंगी?'

रघुपति ने उत्तर दिया—'जब तुम लोगों के यह राजा इस राज्य से निकाल दिये जायँगे तभी माँ पुनः इस राज्य में पदार्पण करेंगी।'

इस बात को सुनकर वह गुनगुनाहट सहसा बन्द हो गई। एकाएक चारों ओर सन्नाटा छा गया। लोग एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगे। कोई हिम्मत करने पर भी एक बात तक नहीं कह सकता था।

रघुपति ने चिल्लाकर कहा—'तो तुम लोग देखना चाहते हो। आओ, आओ, मेरे साथ आओ। बहुत दूर से तुम लोग विभिन्न आशाओं को लिये देवी का दर्शन करने आये हो! चलो एक बार मन्दिर में तो चलो।'

सभी भयपूर्वक आकर मन्दिर के आँगन में एकत्रित हो गये। मन्दिर का द्वार बन्द था। रघुपति ने धीरे-धीरे द्वार खोल दिया।

कुछ देर तक किसी का भी मुँह न खुला। मूर्ति का मुख नहीं दिखाई पड़ रहा था। मूर्ति की पीठ दर्शकों की ओर थी। माँ विमुख हो गई थी। सहसा जनता में रुदन मच गया—ओ माँ, एक बार सम्मुख हो जाओ, हम लोगों ने क्या अपराध किया है।' चारो ओर 'माँ कहाँ है' का शोर उठने लगा, पर वह पाषाण मूर्ति घूमी नहीं। कई लोग बेहोश हो गये। बच्चे कुछ न समझ सकने के कारण रो पड़े। बूढ़े मातृहीन बालकों की भाँति पुकारने लगे—'माँ, ओ माँ!' स्त्रियों के घूँघट खुल गये और आँचल खिसक पड़े। वे अपनी छाती पीटने लगीं। युवक काँपते हुए स्वर से कहने लगे—'माँ, हम लोग तुम्हें अवश्य लौटा लावेंगे। हम लोग तुम्हें कभी भी न छोड़ेंगे।' एक व्यक्ति पागलों की तरह बकने लगा—'मेरी माँ, अपनी सन्तानों की ओर देखना नहीं चाहती।' इस प्रकार मन्दिर के द्वार पर खड़ा होकर मानो सम्पूर्ण राज्य ही 'माँ माँ' करके करुण-क्रन्दन करके लगा किन्तु पाषाण मूर्ति ने मुँह न फेरा। दोपहर का सूर्य तेज हो गया पर आँगन में जनता का रुदन न रुका।

तब जयसिंह डरते काँपते आकर रघुपति से बोले—'प्रभु, क्या मैं एक बात भी नहीं कह सकता?'

रघुपति—'नहीं, एक बात भी नहीं।'

जयसिंह—'क्या सन्देह का कोई कारण नहीं ?'

रघुपति—'नहीं !'

जयसिंह ने मुट्ठी बाँधकर जोर से कहा—'सब कुछ कैसे मान लूँ ?'

रघुपति ने जयसिंह को तरेर कर देखा और कहा—'हूँ।'

जयसिंह सीने पर हाथ रखकर बोले—'ओह ! मेरी छाती फटी जा रही है।' वे जनता के बीच से भाग कर बाहर चले गये।

चौदहवाँ परिच्छेद

उसके दूसरे दिन चतुर्दशी थी। इसी रात को चौदह देवताओं की पूजा होने वाली थी। प्रभात में जब सूर्य ताल-वन के ऊपर हुआ उस समय आकाश में बादल नहीं थे। सुनहली किरणों से आच्छादित एवं आनन्द से परिपूर्ण उस वन में जयसिंह जब जाकर बैठे तब पुरानी स्मृतियाँ उनके मन में जाग उठीं। इसी वन में, पत्थर के बने हुए मन्दिर की इन्हीं पत्थर की पीढ़ियों पर, गोमती नदी के किनारे वाले इसी विशाल वट-वृक्ष की छाया में, इसी छाया से आच्छादित इस तालाब के किनारे उनका बाल्यकाल बीता था ये बातें मधुर स्वप्न की तरह उनके मन में आने लगीं। वे सभी मधुर दृश्य जो उनके बचपन के बहुत ही प्रिय थे, आज भी हँस रहे थे, उनको बुला रहे थे। पर उनका हृदय कहता—'मैं तो यात्रा करने निकला हूँ, मैंने तो विदा ले ली है, अब मैं लौट नहीं सकता।'

श्वेत पत्थरों वाले मन्दिर पर सूर्य की किरण पड़ रही थीं और उसके बायें वाली दिवाल पर बकुल वृक्ष शाखाओं की हिलती हुई छाया दृष्टिगोचर हो रही थी। अपने बचपन में जयसिंह जिस प्रकार इस मन्दिर को बेसुध पाते तथा सीढ़ियों पर अकेले बैठे हुए जब वे खेला करते तब इन्हीं पत्थरों में वे अपने साथी का अनुभव करते। आज प्रातःकालीन सूर्य की किरणों में मन्दिर उसी प्रकार बेसुध था। जयसिंह मन्दिर के पत्थर की सीढ़ियों

क ो उसी प्रकार बचपन की आँखों से देखने लगे। मन्दिर के भीतर काली की मूर्ति को आज फिर एक बार माँ कहने को जी चाहने लगा, किन्तु अभिमान से उनका हृदय भर गया और नेत्रों से आँसू ढुलक पड़े।

रघुपति को आया हुआ देखकर जयसिंह ने आँखों के आँसू पोंछ डाले और गुरु को प्रणाम करके खड़े हो गये। रघुपति बोले—'आज पूजा का दिन है। माँ के चरण छूकर जो प्रतिज्ञा की थी, याद है न?'

'है।'

'शपथ का पालन तो करोगे न?'

'हाँ।'

'देखना बेटा, सावधानी से काम करना। संकट का भय है। तुम्हारी रक्षा करने के लिए ही मैंने प्रजा को राजा के विरुद्ध भड़काया है।'

जयसिंह चुपचाप रघुपति के मुँह की ओर देखते रहे, कुछ बोले नहीं। रघुपति ने फिर उनके सिर पर हाथ रखकर कहा—'मेरे आशीर्वाद से तुम अपना काम निर्विघ्न कर लोगे। माँ का आदेश पालन करने में अवश्य समर्थ होओगे।' इतना कहकर रघुपति चले गये।

दोपहर के बाद राजा एक कमरे में बैठे हुए ध्रुव के साथ खेल रहे थे। ध्रुव की आज्ञानुसार वे एक बार मुकुट पहन लेते तो फिर उतार देते। म ह ा राज की इस अवस्था पर हँसता-हँसता लोट-पोट हो रहा था। राजा मुस्कुरा कर बोले—'मैं अभ्यास कर रहा हूँ। उनकी आज्ञा पाते ही यह मुकुट जिस प्रकार आसानी से पहन लेता हूँ, उसी प्रकार उनकी आज्ञानुसार य ह उतार भी सकता हूँ? मुकुट धारण करना जितना कठिन है उससे भी कठिन है उसका परित्याग करना।'

ध्रुव के मन में सहसा एक विचार उत्पन्न हुआ। कुछ देर तक राजा क ी ओर देखकर मुँह में अँगुली डालकर बोला—'तुम आजा।' राजा शब्द से 'र' अक्षर का एकबारगी लोप कर देने पर भी ध्रुव के मन में तनिक भ ी दुःख नहीं हुआ। 'राजा' के सामने ही उनको 'आजा' कहने में मानो उसे पूर्णतया आत्म-सन्तुष्टि मिली।

राजा ध्रुव की इस धृष्टता को सहन न करके बोल उठे—'तुम 'आजा'।'

ध्रुव ने फिर कहा—'तुम 'आजा'।'

इस विषय पर वादविवाद समाप्त न हो पाया। किसी भी पक्ष के पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं था कि कौन 'आजा' यह तर्क एक मात्र शारीरिक बल पर ही अवलम्बित था। अन्त में राजा ने अपना मुकुट ध्रुव के सिर पर पहना दिया। अब ध्रुव के पास दूसरी कोई भी बात कहने का साहस न रहा। उसकी पूर्णतया हार हो गई। ध्रुव का आधा मुख उस मुकुट में छिप गया। मुकुट सहित अपने सुन्दर सिर को हिला कर उसने छत्रहीन राजा को आज्ञा दी—'एक कहानी सुनाओ।'

राजा ने कहा—'कौन-सी कहानी सुनाऊँ?'

ध्रुव फिर बोला—'दीदी की कहानी सुनाओ।' कहानी मात्र को वह 'दीदी की कहानी' समझता था। वह जानता था कि उसकी दीदी जो कहानी कहती थी उसके अतिरिक्त इस संसार में दूसरी कहानी ही नहीं।

तब राजा ने एक श्रेष्ठ पौराणिक कहानी कहना प्रारम्भ किया। वह कहने लगे—'हिरण्यकशिपु नामक एक राजा था।'

'राजा' सुनकर ध्रुव बोल उठा—'मैं आजा।' उस सुन्दर एवं ढीले मुकुट के जोर के कम्पन मात्र से ही उसने हिरण्यकशिपु के राजा होने को एकदम अस्वीकार कर दिया।

चापलूस दरबारी के सदृश गोविन्द माणिक्य उस छत्रधारी बालक को सन्तुष्ट करने के लिए बोले—'तुम भी 'आजा' और वह भी 'आजा'।'

ध्रुव ने इससे भी साफ तौर पर इन्कार करके कहा—'ना, मैं आजा।'

अन्त में जब महाराज ने कहा कि हिरण्यकशिपु 'आजा नहीं 'आक्कस' तब ध्रुव ने उसमें कुछ आपत्ति करना ठीक नहीं समझा।

इसी समय नक्षत्र राय कमरे में आये और बोले—'सुना है महाराज ने मुझे किसी राज्य सम्बन्धी काम के लिए बुलाया है। मैं आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।'

राजा ने कहा—'कुछ देर और ठहरो। कहानी समाप्त कर लूँ।' इतना

कहकर राजा ने कहानी समाप्त कर दी। 'आक्कस दुष्ट था।' ऐसा विचार कहानी सुनने के पश्चात् ध्रुव ने प्रकट किया।

ध्रुव के सिर पर मुकुट देखकर नक्षत्र राय को अच्छा न लगा। जब ध्रुव ने देखा कि नक्षत्र राय की आँखें उसकी ओर गड़ी हैं तब उसने गम्भीरता-पूर्वक नक्षत्र राय को बता दिया—'मैं 'राजा'।'

नक्षत्र राय कह पड़े—'छिः! छिः! बड़ी बुरी बात।' इतना कह ध्रुव के सिर से मुकुट उतारकर राजा को देने के लिए सचेष्ट हुए। ध्रुव मुकुट छीने जाने की सम्भावना देखकर असली राजा की तरह चिल्ला उठा। गोविन्द माणिक्य ने ध्रुव को इस आने वाली आपत्ति से बचा लिया और नक्षत्र राय को मना कर दिया।

इसके बाद गोविन्द माणिक्य ने नक्षत्र राय से कहा—'सुन रहा हूँ कि पुजारी रघुपति ने झूठे प्रचारों द्वारा सारी जनता में असन्तोष उत्पन्न कर दिया है। तुम स्वयं नगर में जाकर इस बात का पता लगाकर आओ और सत्य एवं असत्य को ठीक-ठीक मुझे बताओ।

नक्षत्र राय ने कहा—'जो आज्ञा।' इतना कहकर वह बाहर चले गये किन्तु ध्रुव के सर का मुकुट उन्हें थोड़ा भी न सुहाया।

द्वारपाल ने आकर कहा—'पुजारी रघुपति के सेवक जयसिंह महाराज के दर्शनार्थ द्वार पर खड़े हैं।'

राजा ने उनको लाने की आज्ञा दी।

जयसिंह ने महाराज को प्रणाम करके हाथ जोड़कर कहा—'मैं बहुत दूर चला जा रहा हूँ। आप हमारे राजा हैं, हमारे गुरु अतः आपका आशीर्वाद लेने आया हूँ।'

राजा ने पूछा—'कहाँ जाओगे जयसिंह?'

जयसिंह ने उत्तर दिया—'नहीं कह सकता महाराज कहाँ? इसे कोई भी नहीं बता सकता।' राजा को बोलने के लिए उद्यत देखकर जयसिंह ने फिर कहा—'महाराज, कृपया रोकियेगा नहीं। आप के टोकने से मेरी यात्रा शुभ न होगी। आप आशीर्वाद दीजिए कि इस स्थान पर

रहने से जो कुछ संशय मेरे मन में है वह सब वहाँ पहुँचने पर दूर हो जाय। इस स्थान का अज्ञान-मेघ वहाँ पहुँचने पर फट जाय मानो आप जैसे राजा के शासन में पहुँचकर शान्ति पाऊँ।'

राजा ने फिर पूछा—'कब जाओगे?'

जयसिंह बोले—'आज सायंकाल। अधिक समय नहीं है महाराज! अतः अब मैं विदा होता हूँ।' इतना कहने के साथ राजा के चरणों पर दो बूँद आँसू टपक पड़े।

जब जयसिंह जाने के लिए उठ खड़े हुए उस समय ध्रुव ने धीरे-धीरे जाकर उनका वस्त्र खींचकर कहा—'तुम मत जाओ।'

जयसिंह हँसकर लौट पड़े। ध्रुव को गोद में उठाकर और उसका चुम्बन लेकर बोले—'किसके पास रहूँगा बेटा? मेरा कौन है?'

ध्रुव ने कहा—'मैं आजा।'

जयसिंह बोले—'तुम राजाओं के भी राजा हो। तुम्हीं ने तो सभी को बाँध रखा है।'

इसके बाद ध्रुव को गोद से उतारकर जयसिंह कमरे के बाहर चले गये। महाराज कुछ देर तक गम्भीरतापूर्वक विचार करते रहे।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

आज ही चतुर्दशी थी। आकाश में बादल भी थे और चन्द्रमा भी निकला था। कहीं प्रकाश था तो कहीं अन्धकार। चन्द्रमा कभी बादलों में चमक उठता तो कभी उनमें छिप जाता। गोमती नदी के किनारे के जंगल चन्द्रमा की ओर देखते हुए अपने घोर अन्धकार को चीर कर बीच-बीच में मानो निःश्वास छोड़ रहे थे।

आज रात को बाहर निकलना मना था। रात में कोई भी बाहर नहीं आता। इस मनाही के कारण आज मार्ग का सूनापन और भी अधिक मालूम पड़ रहा था। सम्पूर्ण नागरिकों ने अपने-अपने घरों के दीपक बुझा

कर द्वार बन्द कर लिये थे। मार्ग में एक प्रहरी तक नहीं था। आज के दिन चोर भी बाहर नहीं निकलते। जिसे श्मशान पर मुर्दा फूँकने जाना होता वह भी आज के दिन मुर्दे को घर में ही रखकर प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा करता। जिसके घर बच्चा बीमार रहता वह भी वैद्य तक बुलाने बाहर न निकलता। जो भिक्षुक नित्य सड़क के किनारे पेड़ के नीचे सोते थे वे भी आज गृहस्थों की गोशालाओं में विश्राम करते थे।

आज रात को सियार और कुत्ते नगर के प्रत्येक मार्ग पर घूम रहे थे। एक-आधा चीते और बाघ भी गृहस्थों के द्वार के पास आकर झाँक रहे थे। मनुष्यों में केवल एक ही व्यक्ति आज घर के बाहर था और कोई नहीं। वह नदी के किनारे पत्थर के ऊपर एक छुरी रगड़-रगड़ कर तेज कर रहा था और उदास होकर न जाने क्या सोच रहा था। छुरी की धार काफी तेज थी पर उसे जान पड़ता था मानो छुरी के साथ-साथ वह अपनी भावनाओं पर भी शान दे रहा हो। इसीलिए शायद उसका तेज करना भी समाप्त नहीं हो रहा था। पत्थर की रगड़ से तेज छुरी हिस्-हिस् शब्द करके हिंसा की लालसा से तप्त हो गई। उस घोर अँधेरी रात में ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अन्धकार की नदी बह रही हो। सारे संसार में अँधेरी रात के प्रहर पर प्रहर बीतते जा रहे थे। आकाश में मानो काले-काले बादलों का स्रोत फूट पड़ा था।

अन्ततः जब मूसलाधार वर्षा होने लगी तब जयसिंह को होश आया। वे जलती हुई छुरी को खोंप में रखकर उठ खड़े हुए। पूजा का समय निकट था। उन्हें अपनी शपथ का ध्यान आया। अब क्षण भर भी देर नहीं की जा सकती थी।

आज मन्दिर हजारों दीपकों के प्रकाश से प्रकाशित था। तेरह देवताओं के बीच में खड़ी काली ने रक्त-पात का पान करने के लिए अपनी जीभ बाहर निकाल रखी थी। मन्दिर के नौकरों को छुट्टी देकर रघुपति चौदहों देवताओं की ओर मुंह किये बैठे थे। वह उज्ज्वल तथा नग्न खड्ग दीपकों के प्रकाश में चमकता हुआ रखे हुए वज्र के समान मानो देवी की

आज्ञाओं की राह देख रहा था।

आधी रात को पूजा थी। समय भी निकट था। रघुपति अधीरता-पूर्वक जयसिंह की प्रतीक्षा कर रहे थे। सहसा जोर की हवा चली और मुसलाधार वर्षा होने लगी। वायु के कारण मन्दिर की हजारों दीप-शिखायें काँपने लगीं। उस नंगे खड्ग पर बिजली-सी चमकने लगी। चौदह देवताओं एवं रघुपति की परछाईं मानो सजीव होकर दीप-शिखाओं के नृत्य से ताल मिला-मिलाकर मन्दिर के देवताओं पर नाचने लगी। एक नर-मुण्ड उस आँधी में उड़कर घर से टकराने लगा। मन्दिर में दो चमगादड़ आकर सूखे पत्तों की तरह इधर-उधर उड़ने लगे। उनकी परछाईं दीवार पर पड़ने लगी।

दो पहर बीत गये। पहले समीप के और फिर दूर-दूर के भी सियार चिल्ला उठे। तेज वायु भी उनके शब्दों के साथ मिल कर हू-हू करके मानो रोने लगी। पूजा का समय हो गया था। रघुपति अमङ्गल की आशंका से अत्यन्त अधीर हो उठे।

इसी समय प्रलयकालीन तूफान के सदृश्य जयसिंह रात्रि के घोर अन्धकार में से सहसा मन्दिर के प्रकाश में प्रविष्ट हुए। उनका शरीर एक लम्बी चादर से ढका हुआ था। सारा शरीर वर्षा से तर था। जोरों की साँस चल रही थी और नेत्रों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं।

रघुपति ने उनको पकड़कर कान में कहा—'राज-रक्त लाये हो?'

जयसिंह उनका हाथ झटक कर जोर से बोले—'लाया हूँ, राज-रक्त लाया हूँ। आप दूर खड़े रहें, मैं देवी पर चढ़ाऊँगा।' इन शब्दों से सम्पूर्ण मन्दिर हिल उठा।

जयसिंह काली की मूर्ति के पास खड़े होकर कहने लगे—'तो सत्य है कि तू अपनी ही सन्तान का रक्त चाहती है माँ! राज-रक्त के बिना तेरी प्यास बुझेगी ही नहीं! जन्म ही से मैं तुझे माँ कहता आया हूँ, तेरी ही पूजा करता रहा हूँ। मैंने अन्य किसी को भी अपने हृदय में स्थान नहीं दिया। मेरे जीवन का कोई दूसरा उद्देश्य भी नहीं था। मैं राज-वंश

का हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ। मेरे भी प्रपितामह राजा थे। मेरी माता के वंश के आज भी राज्य करते हैं। मेरा रक्त भी तो तेरी सन्तान का ही रक्त है— राज-रक्त ही तो है।' इतना कहते-कहते उनके शरीर से चादर गिर पड़ी। उन्होंने कमर से छुरी निकाली, छुरी की चमक के कारण मानो बिजली कौंध उठी। देखते-ही-देखते जयसिंह ने सारी छुरी अपने हृदय में धँसा ली। मृत्यु की वह तीक्ष्ण जिह्वा उनके वक्षस्थल में घुस गई। वे मूर्ति के पैरों के समीप गिर पड़े, पर वह पत्थर की मूर्ति तनिक भी विचलित न हुई।

रघुपति चिल्ला पड़े। उन्होंने जयसिंह को उठाने की चेष्टा की पर उठा न पाये। वे जयसिंह के मृतक शरीर पर पड़े रहे। रक्त निकलकर मन्दिर के श्वेत पत्थरों पर बहने लगा। सारे दीपक एक-एक करके बुझ गये। उस घोर अन्धकार में सारी रात किसी व्यक्ति के निःश्वास के शब्द ही सुनाई पड़ते रहे। रात के तीसरे पहर आँधी-पानी बन्द हो गया और चारो ओर सन्नाटा छा गया, चौथे पहर में बादलों को चीरकर चन्द्रमा की किरणें मन्दिर में प्रवेश करने लगीं। चाँदनी जयसिंह के पीले मुख पर पड़ी। चौदहों देवता सिरहाने खड़े-खड़े वही देखने लगे।

जब प्रातःकाल जंगल में पक्षी बोलने लगे तब रघुपति उस मृतक शरीर पर से उठे।

सोलहवाँ परिच्छेद

राजा की आज्ञानुसार नक्षत्र राय प्रजा में फैले हुए असन्तोष का पता लगाने के लिए स्वयं निकले। उनके मन में विचार आया कि मन्दिर में जाने से क्या लाभ। वे रघुपति के सामने आने पर न जाने क्यों विचलित हो जाते थे और उचित-अनुचित का ज्ञान न रहने से वे अपने को सँभाल भी न पाते थे। रघुपति के सम्मुख जाने की उनकी थोड़ी भी इच्छा न थी। इसी कारण उन्होंने निश्चय किया कि रघुपति की निगाह बचाकर चुपके से जयसिंह के कमरे में जाकर उन्हीं से सारी बातों का संक्षेप में

पता लगाऊँगा ।

नक्षत्र राय धीरे-धीरे जयसिंह के कमरे में घुसे । कमरे में प्रवेश करते समय उन्होंने सोचा कि यदि लौटा तो समझो बच गया । घुसते ही उन्होंने देखा कि जयसिंह की पुस्तकें, कपड़े-लत्ते और उनके घर के सारे सामान चारों ओर बिखरे पड़े हैं । उनके बीच में रघुपति बैठे हैं पर जयसिंह न थे । रघुपति की लाल लाल आँखें अङ्गारे के समान जल रही थीं तथा उनके बाल भी बिखरे हुए थे ।

नक्षत्र राय को देखते ही रघुपति ने उनकी कलाई जोर से मुट्ठी में पकड़ ली । उन्होंने नक्षत्र राय को बलपूर्वक जमीन पर बैठा दिया । नक्षत्र राय के होश उड़ गये । रघुपति ने अपने जलते हुए नेत्रों द्वारा उनके हृदय तक को दग्ध करते हुए पागलों की तरह कहा—'रक्त कहाँ है ?' नक्षत्र राय का हृदय वेग से धड़कने लगा । उनके मुँह से कोई बात न निकली ।

रघुपति ने चिल्लाकर कहा—'तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ गई ? बताओ, रक्त कहाँ है ?'

नक्षत्र राय ने हाथ-पाँव ढीले कर लिये । वे बायें हटकर बैठ गये और वस्त्र का एक छोर पकड़कर ऐंठने लगे । उनका कर्त्तव्य जागृत होने लगा । वे सूखे हुए मुख से बोले—'पुजारी जी···!'

रघुपति फिर बोले—'इस बार जब माँ ने स्वयं तलवार उठा ली है, जब चारों ओर रक्त की धारा बहेगी और तुम्हारे वंश में भी रक्त की एक बूँद तक बाकी न रह जायगी तब देखूँगा नक्षत्र राय का भ्रातृ-स्नेह !'

'भ्रातृ-स्नेह ! हा ! हा ! हा ! पुजारी जी···!' नक्षत्र राय और न हँस सके । उनका गला रुँध गया ।

तब रघुपति ने कहा—'मुझे गोविन्द माणिक्य का रक्त नहीं चाहिए । इस पृथ्वी पर गोविन्द माणिक्य के लिए जो प्राणों से भी अधिक प्रिय है मैं उसी को चाहता हूँ । मैं उसका रक्त उनके सारे शरीर में पोत देना चाहता हूँ जिससे उनका वक्षस्थल तक रक्त-वर्ण का हो जायगा और वह रक्त-चिह्न किसी भी प्रकार न मिट पायेगा । इसे देख लो, भली-भाँति

देख लो।' इतना कहकर रघुपति ने दुपट्टा हटा लिया। उनका शरीर रक्त से लथपथ था। उनके वक्षस्थल पर भी यत्र-तत्र रक्त जमा हुआ था।

नक्षत्र राय सिहर उठे। उनके हाथ-पैर काँपने लगे। रघुपति ने अपनी कठोर मुट्ठियों में नक्षत्र राय का हाथ जकड़कर कहा—'वह कौन है—कौन है जो गोविन्द माणिक्य को प्राणों से भी अधिक प्यारा है? किस के न रहने पर गोविन्द माणिक्य को यह सारा संसार श्मशान तुल्य हो जायगा? वे प्रातःकाल बिछौने से उठकर सबसे पहले किसका मुख देखते हैं? किसकी स्मृति लेकर वे रात में सोने जाते हैं तथा कौन उनके हृदय में प्रवेश करके निवास कर रहा है? वह कौन है?' इतना कहकर रघुपति नक्षत्र राय की ओर उसी प्रकार घूरकर देखने लगे जैसे व्याघ्र डरे हुए मृग-शावक की ओर आक्रमण करने के पूर्व स्थिरतापूर्वक देखता है।

नक्षत्र राय झटपट बोल उठे—'नहीं, मैं नहीं।' किन्तु किसी भी प्रकार वह रघुपति की मुट्ठी न छुड़ा सके।

रघुपति ने पूछा—'तो बताओ वह कौन है?'

नक्षत्र राय कह उठे—'ध्रुव!'

रघुपति—'ध्रुव कौन?'

नक्षत्र राय—'वह एक बालक है।'

तब रघुपति ने फिर कहा—'हाँ, मैं उसे जानता हूँ—भली-भाँति जानता हूँ। राजा को कोई अपनी सन्तान नहीं, वे उसी का पालन-पोषण अपनी सन्तान की तरह कर रहे हैं। लोग अपनी सन्तान को कितना प्यार करते हैं—यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु पालित सन्तान को लोग प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। इससे मैं भली-भाँति परिचित हूँ। अपनी सम्पूर्ण सम्पदाओं की तुलना में राजा उसके मुख का विशेष ध्यान रखते हैं। अपने मस्तक पर मुकुट देखने की अपेक्षा उसके माथे पर मुकुट देखकर राजा को विशेष आनन्द होता है।'

नक्षत्र राय आश्चर्यचकित होकर कह उठे—'ठीक बात है।'

रघुपति ने कहा—'ठीक नहीं तो फिर क्या ? राजा उसे कितना प्यार करते हैं, क्या मैं नहीं जानता, क्या मैं नहीं समझता ? मैं भी तो उसे ही चाहता हूँ।'

नक्षत्र राय 'हाँ' कहकर रघुपति की ओर देखते रहे। वे अपने मन में बोले—'उसी को चाहते हैं।'

रघुपति ने फिर कहा—'उसको लाना होगा—आज ही लाना होगा। उसे आज रात्रि को ही चाहता हूँ।'

नक्षत्र राय ने प्रतिध्वनि की तरह दुहराया—'आज रात्रि को ही चाहता हूँ।'

रघुपति ने कुछ क्षण तक नक्षत्र राय के मुँह की ओर देखा और मन्द स्वर में कहा—'यह बालक ही तो तुम्हारा शत्रु है—जानते हो इसे? तुम राज-कुल में पैदा हुए हो। न जाने कहाँ से एक अज्ञात कुल का बालक तुम्हारे मस्तक से मुकुट उतार लेने के लिए आ गया है। इसे जानते नहीं हो क्या ? जो राज-सिंहासन तुम्हारी अपेक्षा करता था उसी सिंहासन पर उस बालक का स्थान निश्चित हो चुका है—इसको क्या दोनों आँखों के रहते भी देख नहीं पाते ?'

नक्षत्र राय के लिए ये सारी बातें नई न थीं। उन्होंने भी पहले ऐसा ही सोचा था। वे गर्व-पूर्वक बोले—'पुजारी जी क्या इसे और अधिक बतलाना पड़ेगा ? मैं क्या इसे देख नहीं रहा हूँ ?'

तब रघुपति ने कहा—'तब फिर क्या ? मुझे उसे ला दो।'

'मैं तुम्हारे मार्ग का कंटक दूर कर दूँ। सारा समय तो तुम इसी प्रकार यहीं बिता दोगे तो फिर लाओगे कब ?'

नक्षत्र राय—'आज सायंकाल, अँधेरा हो जाने के पश्चात्।'

इसके बाद जनेऊ का स्पर्श करके रघुपति ने कहा—'यदि तुम उसे न ला सकोगे तो ब्राह्मण का शाप लगेगा। जिस मुख से उसे लाने की प्रतिज्ञा करके यदि पालन न करोगे तो तीन दिन के भीतर ही तुम्हारे उसी मुख का मांस गिद्ध नोच-नोच कर खायँगे।'

य ने चौंककर मुँह पर हाथ रख लिया। कोमल मांस पर गिद्ध के चोंच मारने की कल्पना मात्र उनको अत्यन्त असह्य मालूम होने लगी। रघुपति को प्रणाम करके वे चटपट चल पड़े। उस कमरे से निकलकर जब नक्षत्र राय प्रकाश, वायु और जन कोलाहल में आये तो मानो उन्हें नया जीवन प्राप्त हुआ।

सत्रहवाँ परिच्छेद

उसी दिन सायंकाल नक्षत्र राय को देखकर ध्रुव 'काका' कह कर दौड़ता हुआ आया और अपने नन्हें हाथों से उनके गले को पकड़कर उनके गाल पर अपना गाल रख वह अपना मुख उनके मुख के समीप ले गया और खूब धीरे से बोला—'काका !'

नक्षत्र राय बोले—'छिः ! छिः ! ऐसी बात मत बोलो। मैं तुम्हारा काका नहीं हूँ।'

अब तक ध्रुव उनको बराबर काका कहता आ रहा था किन्तु आज सहसा उनकी नकार सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह कुछ देर तक गम्भीर मुख-मुद्रा बनाये चुपचाप बैठा रहा। बाद में नक्षत्र राय की ओर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को उठाकर पूछा—'तुम कौन हो ?'

नक्षत्र राय ने कहा—'मैं तुम्हारा काका नहीं हूँ।'

इसे सुनकर ध्रुव को जोर से हँसी आ गई। इतनी असम्भव बात इसके पहले उसने कभी भी न सुनी थी। वह हँसकर बोला—'तुम काका।' नक्षत्र राय जितना ही मना करने लगे वह उतना ही बार बार 'तुम काका, तुम काका' कहने लगा। उसकी हँसी भी उतनी ही बढ़ती गई। नक्षत्र राय को काका कहकर चिढ़ाने लगा। तब नक्षत्र राय बोले—ध्रुव, दीदी को देखने चलोगे ?'

ध्रुव तुरन्त नक्षत्र राय का गला छोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'दीदी कहाँ है ?'

नक्षत्र राय—'माँ के पास।'

ध्रुव—'माँ कहाँ है ?'

नक्षत्र राय—'माँ एक जगह हैं। मैं तुमको वहाँ ले जा सकता हूँ।'

ध्रुव ने ताली बजाकर पूछा—'कब ले चलोगे, काका ?'

नक्षत्र राय—'अभी।'

ध्रुव आनन्द से चिल्ला उठा। उसने बलपूर्वक नक्षत्र राय की गरदन पकड़ ली। नक्षत्र राय ने उसे गोद में उठा लिया और चादर से ढककर गुप्त द्वार से उसे बाहर ले गये।

आज रात को भी बाहर निकलना मना था, इसी कारण मार्ग में कोई प्रहरी तक नहीं था। पूर्ण चन्द्र आकाश में उदित था।

मन्दिर में जाकर नक्षत्र राय ध्रुव को रघुपति के हाथ में देने लगे। रघुपति को देखकर ध्रुव बलपूर्वक नक्षत्र राय से लिपट गया। वह किसी भी प्रकार उनको छोड़ता नहीं था। रघुपति ने बलात् उसे छीन लिया ! ध्रुव 'काका' कहकर रो पड़ा। नक्षत्र राय के नेत्रों में भी आँसू आ गये पर रघुपति के सामने हृदय की दुर्बलता दिखाने में उन्हें अत्यन्त लज्जा आने लगी। उन्हें जान पड़ा मानो वे पत्थर से मढ़ दिये गये हैं। उस समय ध्रुव रोते-ही-रोते 'दीदी ! दीदी !' कहकर पुकारने लगा पर दीदी न आई। रघुपति ने उसे एक बार वज्र सरीखे कठोर स्वर में डाँटा। भय के कारण ध्रुव की रुलाई बन्द हो गई। अब वह केवल सिसकने लगा—उसे रुलाई रुक-रुककर आने लगी। चौदहों देव-मूर्तियाँ खड़ी-खड़ी देखती ही रहीं।

अर्ध-रात्रि को नींद में रोने की आवाज सुनकर गोविन्द माणिक्य जाग पड़े। सहसा उन्होंने सुना कि कोई खिड़की के नीचे खड़ा होकर कातर स्वर में पुकार रहा है—'महाराज ! महाराज !'

राजा तुरन्त उठकर गये और उस छिटकी हुई चाँदनी में देखा कि

ध्रुव के चाचा केदारेश्वर खड़े हैं। उन्होंने पूछा—'क्या बात है?'

केदारेश्वर ने कहा—'महाराज, मेरा ध्रुव कहाँ है?'

राजा बोले—'क्यों, वह तुम्हारे बिछौने पर नहीं है?'

'नहीं'—केदारेश्वर कहने लगे—'शाम हो जाने पर ध्रुव को न देखकर जब मैंने पूछताछ की तो युवराज नक्षत्र राय के नौकर ने बताया कि ध्रुव महल में युवराज के पास है। इसको सुनकर मैं निश्चित हो गया। जब अधिक रात हो गई और ध्रुव न आया तो मुझे आशंका होने लगी। पता लगाने पर मालूम हुआ कि युवराज नक्षत्र राय भी महल में नहीं है। मैंने महाराज से सारी बातें बताने के लिए भेंट करने की बहुत कोशिश की परन्तु पहरेदार ने मेरी कोई भी बात न मानी। इसी कारण विवश होकर मैं महाराज को खिड़की के नीचे से पुकार रहा था। मैंने आपकी नींद में बाधा डाली है, कृपया आप मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिए।'

महाराज के मन में एक विचार सहसा बिजली के समान जागृत हो उठा। उन्होंने चार पहरेदारों को बुलाया और बोले—'शस्त्रों से सुसज्जित होकर मेरे पीछे-पीछे आओ।'

एक ने कहा—'महाराज, आज रात को बाहर मार्ग पर जाना मना है।'

राजा बोले—'मैं आज्ञा दे रहा हूँ।'

केदारेश्वर भी जाने को तैयार हुए परन्तु राजा ने उन्हें लौट जाने को कह दिया। उस चाँदनी रात में निर्जन मार्ग द्वारा राजा मन्दिर की ओर चले।

जब मन्दिर का द्वार सहसा खुल गया तब दिखाई पड़ा कि तलवार को सामने रखकर रघुपति और नक्षत्र राय शराब पी रहे थे। विशेष प्रकाश न था केवल एक दीपक जल रहा था। पर ध्रुव कहाँ? ध्रुव तो काली की मूर्ति के चरणों के समीप सोया था। उसके गालों पर पड़ी हुई अश्रु की धारा सूख गई थी। उसके दोनों ओठ कुछ खुले हुए थे। न तो उसके मुख पर कोई भय का चिह्न था न कोई विचार ही। ऐसा प्रतीत होता

था जैसे वह पत्थर पर नहीं बल्कि अपनी दीदी की गोद में सोया है। मानो दीदी ने चुम्बन लेते-लेते उसके नेत्रों के आँसुओं को पोंछ दिया है।

शराब पी लेने के कारण नक्षत्र राय अपने होश में न थे। किन्तु रघुपति चुपचाप बैठे हुए पूजा के लग्न की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे नक्षत्र राय की बक-बक की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दे रहे थे। नक्षत्र राय कह रहे थे—'पुजारीजी, आपके मन में डर उत्पन्न हो रहा है? आप मन में भय करते हैं और मैं भी डर रहा हूँ। किन्तु कोई डर नहीं पुजारी जी! भय कैसा? और किसका? मैं आपकी रक्षा करूँगा। क्या आप सोचते हैं कि मैं राजा से डरता हूँ? न मैं शाह शुजा से डरता हूँ न शाहजहाँ से ही। पुजारी जी, आपने कहा क्यों नहीं? मैं राजा को पकड़ लाता और देवी को सन्तुष्ट कर दिया गया होता। उस छोटे बालक में भला कितना रक्त निकलेगा?'

इसी समय सहसा मन्दिर की दीवालों पर परछाईं दिखाई पड़ी। नक्षत्र राय ने पीछे फिरकर देखा तो राजा खड़े थे। आश्चर्य के कारण सारा नशा हवा हो गया। वे अपने आप में गड़-से गये। महाराज गोविन्द माणिक्य ने दौड़ कर सोये हुए ध्रुव को गोद में उठा लिया और पहरेदारों से बोले—'इन दोनों को गिरफ्तार कर लो।'

चारों पहरेदारों ने रघुपति और नक्षत्र राय के दोनों हाथों को पकड़ लिया। ध्रुव को सीने से चिपकाये हुए महाराज गोविन्द माणिक्य चन्द्रमा के शुभ्र प्रकाश में उस जनहीन मार्ग से महल को लौट आये। रघुपति और नक्षत्र राय रात भर कारागार में रहे।

अठारहवाँ परिच्छेद

उसी के दूसरे दिन विचार होनेवाला था। न्यायालय में लोग खचा-खच भरे थे। न्यायाधीश के आसन पर राजा विराजमान थे तथा चार

ओर सभासद लोग यथास्थान बैठे थे। सामने दोनों अभियुक्त खड़े थे। किसी के हाथ में हथकड़ी न थी। केवल सशस्त्र प्रहरी उनको चार ओर से घेरे खड़े थे। रघुपति पत्थर की मूर्ति के समान खड़े थे और नक्षत्र राय सिर नीचे किये हुए।

रघुपति का अपराध प्रमाणित करके राजा ने कहा—'तुमको कुछ कहना है?'

रघुपति बोले—'मेरा विचार करने का अधिकार अन्य को नहीं।'

राजा—'तो तुम्हारा विचार कौन करेगा?'

रघुपति—'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं देव-सेवक हूँ। अतः देवता ही मेरे बारे में विचार कर सकते हैं।'

राजा—'पाप का दण्ड और पुण्य का पुरस्कार देने के लिए इस संसार में देवताओं के सहस्रों अनुचर हैं। मैं भी उन्हीं में एक हूँ। इस पक्ष को लेकर मैं तुम्हारे बारे में विचार करना नहीं चाहता। मैं पूछता हूँ कि कल सायंकाल बलि चढ़ाने की इच्छा से तुमने एक बालक का अपहरण किया था?'

रघुपति—'हाँ!'

राजा—'तब तुम अपराध स्वीकार कर रहे हो?'

रघुपति—'अपराध! अपराध कैसा? मैं तो माँ की आज्ञाओं का पालन कर रहा था—माँ का कार्य पूरा कर रहा था और तुमने उसमें विघ्न डाला। अपराध तो तुमने किया। अब मैं तुम्हें माता के समक्ष अपराधी ठहराता हूँ। वह तुम्हारा विचार करेंगी।'

राजा ने उनकी बातों का कुछ भी उत्तर न देकर कहा—'मेरे राज्य का यह नियम है कि जो व्यक्ति देवता के नाम पर बलि चढ़ायेगा या बलि चढ़ाने के लिए तत्पर होगा उसे निर्वासन-दण्ड दिया जायगा। वही दण्ड मैंने तुम्हें दिया। तुम आठ साल के लिए देश से निकाल दिये गये। प्रहरी तुम्हें मेरे राज्य के बाहर कर आवेंगे।'

प्रहरी रघुपति को सभा-भवन से ले जाने को उद्यत हुए। रघुपति ने

उससे कहा—'रुको' फिर राजा की ओर देखकर बोले—'तुम्हारा विचार होना बाकी है। अब मैं तुम्हारा विचार करूँगा। सुनो, चौदह देवताओं की पूजा की दो रात्रियों को जो कोई बाहर आवे वह पुजारी द्वारा दण्ड का भागी होता है यही मेरे मन्दिर का नियम है। इस प्राचीन नियमानुसार तुम दण्ड के भागी हुए।'

राजा ने कहा—'मैं तुम्हारा दण्ड प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत हूँ।'

सभासद बोल उठे—'इस अपराध के लिए केवल अर्थ-दण्ड ही दिया जा सकता है।'

रघुपति ने कहा—'मैं तुम्हारे ऊपर दो लाख रुपये का दण्ड लगाता हूँ। अभी देना होगा।'

राजा ने कुछ क्षण तक विचार किया और तब बोले—'तथास्तु' उन्होंने कोषाध्यक्ष को बुलाकर दो लाख रुपया देने की आज्ञा दे दी। रक्षक रघुपति को बाहर ले गये।

रघुपति के चले जाने के बाद नक्षत्र राय की ओर तीव्र दृष्टि से देखकर राजा ने कहा—'तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो या नहीं?'

नक्षत्र राय बोले—'महाराज मैं अपराधी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए।' इतना कहने के बाद दौड़कर उन्होंने राजा का पैर जोर से पकड़ लिया।

महाराज विचलित हो गये। कुछ क्षण तक उनके मुँह से बात तक न निकली। अन्त में अपने को सँभाल कर बोले—'नक्षत्र राय, उठो। मेरी बात सुनो। मैं क्षमा करने वाला कौन हूँ? मैं तो अपने शासन में स्वयं आबद्ध हूँ। जिस प्रकार बन्दी बँधा होता है उसी भाँति न्यायाधीश भी। एक ही अपराध के लिए मैं एक व्यक्ति को दण्ड दूँ और दूसरे को क्षमा करूँ—यह कैसे हो सकता है। तुम स्वयं सोचो।'

सभासदों ने कहा—'महाराज, नक्षत्र राय आपके भाई हैं। आप अपने भाई को क्षमा कर दीजिए।'

राजा ने बलपूर्वक कहा—'तुम सभी लोग चुप रहो। जब तक मैं इस स्थान पर हूँ, तब तक न तो मैं किसी का भाई हूँ न बन्धु।'

सभासद एकदम चुप हो गये। सभा में शान्ति छा गई। राजा ने गम्भीरतापूर्वक कहा—'तुम सभी लोगों ने सुन लिया है कि मेरे राज्य का नियम है कि जो व्यक्ति देवता के नाम पर बलि चढ़ायेगा या चढ़ाने का प्रयत्न करेगा उसको निर्वासन दण्ड दिया जायगा। कल सायंकाल नक्षत्र राय ने रघुपति के साथ षड्यन्त्र करके एक बालक का अपहरण किया था। यह अपराध प्रमाणित हो चुका है। अतः मैं उनको आठ साल के लिए देश से निर्वासित करता हूँ।'

जब प्रहरी नक्षत्र राय को ले जाने लगे उस समय राजा ने सिंहासन से उतर कर नक्षत्र राय को गले से लगा लिया और भरे हुए कण्ठ से बोले—'भाई, केवल तुम्हें ही दण्ड नहीं मिला है बल्कि मुझे भी। न जाने मैंने पूर्व जन्म में कौन-सा अपराध किया था। जब तक तुम अपने बन्धु-बान्धवों से बिलग रहो, कुल देवता तुम्हारे साथ रहें और तुम्हारा कल्याण करें।'

देखते-ही-देखते यह समाचार जोरों से फैल गया, अन्तःपुर में रोना-पीटना मच गया। राजा एकान्त कमरे में द्वारा बन्द करके बैठ गये और हाथ जोड़कर कहने लगे—'प्रभु, यदि मैं अभी अपराध करूँ तो मुझे क्षमा न कीजिएगा। प्रभु, मुझे पापों के लिए दण्ड अवश्य दो। पाप करके दण्ड सहा जा सकता है किन्तु क्षमाप्राप्ति का भार असहनीय हो जाता है प्रभु।'

राजा के मन में नक्षत्र राय का प्रेम दूने वेग से जागृत जो उठा। मन में नक्षत्र राय के बचपन की आकृति जाग उठी। नक्षत्र राय ने जो कुछ खेल-कूद, बातचीत और काम-काज किया था, वह एक-एक करके राजा के मन में उठने लगे। प्रत्येक दिन और प्रत्येक रात सूर्य के प्रकाश में और तारा खचित आकाश में मानो बालक नक्षत्र राय को लेकर राजा के सम्मुख उदित होती थी। राजा के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

———

बचे-खुचे सामानों को लूटते जाते। यहाँ तक कि जैसे एक मृतक शरीर के लिए सियार और कुत्ते आपस में छीना-झपटी करते हैं उसी तरह सैनिक और लुटेरों में लड़ाई होती जाती।

निष्ठुरता तो सैनिकों का खिलवाड़ हो गई थी। समीप के एक निरीह पथिक के पेट में खप से तलवार घुसेड़ देना या उसके सिर से पगड़ी के सहित खोपड़ी का थोड़ा-सा भाग उड़ा देना इसे तो वे साधारण हँसी-खेल समझते थे। गाँव के लोग उनको देखकर भयभीत हो जाते थे—इसी को जानकर उन्हें बड़ा मजा आता था। वे उस लूट-पाट के बाद भी बचे हुए ग्रामीणों को तङ्ग करने में आनन्द का अनुभव करते थे। कभी वे दो श्रेष्ठ ब्राह्मणों को पीठ-से-पीठ सटाकर उनकी चोटियों को एक दूसरे से बाँध देते और दोनों की नाक में सुँघनी सुँघाते तथा कभी दो घोड़ों की पीठ पर एक ही मनुष्य को चढ़ाकर दोनों घोड़ों को चाबुक से मारते। दोनों घोड़े दो विपरीत दिशाओं में भाग जाते और बीच में वह मनुष्य गिर पड़ता तथा उसके हाथ-पैर टूट जाते। इस प्रकार प्रतिदिन वे नये-नये खेलों का आविष्कार करते रहते। बिना किसी कारण के गाँव जला दिये जाते। कहा जाता कि बादशाह के सम्मानार्थ आतिशबाजियाँ छूट रही थीं।

सेनाओं के मार्ग पर इसी प्रकार अत्याचार के सैकड़ों चिह्न पड़े हुए थे। यहाँ पर भला रघुपति आतिथ्य पाते ही कैसे? वे कभी भूखे और कभी थोड़ा-सा खाकर रह जाते। एक रात अँधेरे में टूटी-फूटी और परित्यक्त कुटिया में थके-माँदे होने के कारण वे सो रहे थे। प्रातःकाल उठते ही उन्होंने देखा कि वे रातभर एक सिर-रहित मृतक शरीर का तकिया लगाये सोये हुए थे। एक दिन दोपहर को रघुपति ने भूखे होने के कारण किसी घर में जाकर देखा कि एक व्यक्ति अपने टूटे हुए सन्दूक पर मुँह के बल पड़ा हुआ है। मालूम होता था कि वह अपने लुटे हुए धन के लिए शोक कर रहा हो। समीप जाकर धक्का देने से ही वह लुढ़क पड़ा मृतक शरीर मात्र, उसके प्राण बहुत समय पूर्व ही निकल चुके थे।

एक दिन रघुपति एक घर में सोये हुए थे। रात किसी तरह बीतने

का नाम ही न लेती थी। कुछ रात बाकी थी। इसी समय धीरे-धीरे द्वार खुला। शरद्कालीन चाँदनी के साथ-साथ कितनी ही परछाइयाँ घर में घुस आईं। फुस-फुस शब्द सुनाई पड़ने लगे। रघुपति चौंककर उठ बैठे। उनके उठते ही कितने ही स्त्री-कण्ठ भयपूर्वक बोल उठे—'अरे बाप रे!' एक पुरुष आगे आकर बोला—'कौन है रे?'

रघुपति ने कहा—'मैं हूँ एक ब्राह्मण पथिक, तुम लोग कौन हो?'

'हम लोगों का यहीं घर है। हम लोग घर छोड़कर भाग गये थे। मुगल सेना चली गई है—यह सुनकर हम फिर यहाँ लौट आये हैं।'

रघुपति ने पूछा—'मुगल सेना किधर गई है?'

'विजयगढ़ की ओर। अब तक वह विजयगढ़ के जङ्गलों में प्रवेश कर चुकी होगी।'

रघुपति कुछ अधिक न कहकर उसी क्षण चल पड़े।

बीसवाँ परिच्छेद

विजयगढ़ का विशाल जंगल ठगों का अड्डा था। जंगल से होकर जो रास्ता जाता था उसके दोनों ओर कितने नरकंकाल गड़े हुए थे, उन पर केवल जंगली फूल ही फूलते थे उनका अन्य कोई चिह्न नहीं। वन के बीच में एक बरगद का वृक्ष था तथा बबूल, नीम और सैकड़ों प्रकार के लता-गुल्मों से यह वन भरा हुआ था। स्थान-स्थान पर पोखर और तालाब की तरह बना हुआ था। निरन्तर पत्तों के गिरते रहने से उसका पानी एकदम हरा हो रहा था। छोटी-छोटी पगडंडियाँ यत्रतत्र टेढ़े-मेढ़े साँपों के सदृश अँधेरे जङ्गल में चली गई थीं। वृक्षों की डाल-डाल पात-पात पर बन्दर थे। बरगद की डाल के ऊपर से सैकड़ों बरोह एवं बन्दरों की पूँछें लटक रही थीं। टूटे हुए मन्दिर के आँगन में हरसिङ्गार का पेड़ सफेद फूलों एवं बन्दरों के खुले हुए दाँतों से एकदम आच्छादित था। सन्ध्या के समय बड़े-बड़े झाऊ के वृक्षों के ऊपर झुण्ड के झुण्ड तोतों के तीव्र स्वर से वन-प्रान्त का घोर अन्धकार मानो छिन्न-भिन्न हो गया था।

आज इस विशाल वन के भीतर लगभग बीस हजार सेनाओं

ने प्रवेश किया। डाल-पात, लता-पत्र एवं तृण-लताओं से परिपूर्ण यह लम्बा-चौड़ा जङ्गल बीस हजार तेज नखों एवं चोंचवाले सैनिक रूप-बाज पक्षियों का एक ममेघ नीड़ मालूम पड़ रहा था। सेनाओं का जमघट देखकर असंख्य कौवे काँव-काँव करते हुए दल बाँध कर आकाश में चक्कर लगा रहे थे। वे साहस करने पर भी डालों पर आकर बैठ न सकते थे।

किसी भी प्रकार की गड़बड़ी करने के बारे में सेनापति की मनाही थी। सेनायें सारे दिन चलने के बाद वन में आकर सूखी लकड़ियों को बटोर कर भोजन पका रही थीं और आपस में धीरे-धीरे बातचीत भी कर रही थीं। उनकी यह गुनगुनाहट सारे जङ्गल में प्रतिध्वनित हो रही थी जिसके कारण सायंकाल झींगुरों की पुकार नहीं सुन पड़ती थी। पेड़ के तनों से बँधे हुए घोड़े बीच-बीच में अपने खुरों से मिट्टी को कुरेदते हुए हिन-हिना उठते थे जिससे सारा वन-प्रान्त चौंक उठता था। भग्न मन्दिर के समीप खुली जगह पर शाह शुजा का शिविर लगा हुआ था। शेष सभी लोगों का निवास आज वृक्षों के नीचे ही था। सारे दिन निरन्तर चलने के उपरान्त रघुपति ने वन में प्रवेश किया। उस समय रात हो चुकी थी। अधिकांश सैनिक बेखबर सो रहे थे। थोड़े सैनिक चुपचाप पहरा दे रहे थे। बीच बीच में स्थान-स्थान पर आग जल रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो अन्धकार अत्यन्त कष्ट से, नींद से भरे हुए अपने लाल नेत्रों को बन्द किये हैं। जङ्गल में पैर रखते ही रघुपति ने बीस हजार सैनिकों के श्वास-प्रश्वास को सुना। वन के सहस्रों वृक्ष मानो शाखाओं को फैलाकर पहरा दे रहे थे। जिस प्रकार काला उल्लू अपने सद्याजात शावक के ऊपर पंख फैला कर बैठा रहता है ठीक उसी प्रकार मानो जङ्गल के बाहरवाली घोर रात्रि भीतर की घोर-तर रात्रि को अपने डैनों से भलीभाँति ढँककर चुपचाप बैठी थी। जङ्गल के भीतर मानो एक रात्रि सिर गड़ाये सो रही थी और दूसरी बाहर सिर ऊँचा किये जाग रही थी। रघुपति उस रात जङ्गल में सो रहे।

वे प्रातःकाल दो-चार ठोकरें खाने के बाद हड़बड़ा कर उठ बैठे और देखा कि पगड़ी बाँधे तथा दाढ़ीवाले कई मुसलमान सैनिक विदेशी भाषा

में उनको कुछ कह रहे हैं। उसको सुनकर उन्होंने निश्चित रूप से अनुमान कर लिया कि अपशब्द कह रहे हैं। रघुपति ने भी बङ्गला में उनसे साले का सम्बन्ध जोड़ लिया। सैनिक उनको अपनी तरफ खींचने लगे।

रघुपति बोले—हँसी-ठट्ठा बना लिया है? किन्तु उनके व्यवहारों द्वारा हँसी-ठट्ठा का कोई चिह्न प्रकट नहीं हो रहा था। वे रघुपति को जङ्गल से निर्दयतापूर्वक टाँगकर ले जाने लगे।

रघुपति ने अत्यन्त दुःख प्रकट करते हुए कहा—'खींचा-तानी क्यों करते हो? मैं स्वयं ही चल रहा हूँ। इतनी दूर भला मैं क्या करने आया?

सैनिक हँसने लगे और उनकी बङ्गला भाषा के कथन की नकल करने लगे। धीरे-धीरे उनके चारों ओर काफी सैनिक एकत्र हो गये और रघुपति को लेकर बड़ा शोर-गुल मच गया। उत्पीड़न की भी सीमा न रही। एक सैनिक ने एक गिलहरी की पूँछ पकड़कर रघुपति के मुण्डित सिर पर छोड़ दिया। उसकी इच्छा यह देखने की थी कि गिलहरी उसको फल समझ कर खाती है या नहीं। दूसरा सैनिक उनकी नाक के सामने एक मोटा बेंत टेढ़ा करके पकड़े हुए साथ-साथ चल रहा था। उस बेंत का प्रहार कर देने पर रघुपति के मुख पर से नाक की ऊँचाई की महिमा के समूल लोप हो जाने की सम्भावना थी। सैनिकों की हँसी से वन-प्रान्त गूँज उठा। आज दोपहर को युद्ध करना होगा इसी से प्रातःकाल रघुपति को लेकर उनका बहुत बड़ा मनोरञ्जन हो गया। खेल की इच्छा समाप्त हो जाने पर वे ब्राह्मण को शुजा के शिविर में ले गये।

शुजा को देखकर रघुपति ने सलाम नहीं किया। वे देवता और अपने वर्ण के लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी के समीप कभी अपना सिर न झुकाते थे। वे सिर ऊँचा किये खड़े रहे और हाथ उठाकर बोले—'शाहनशाह की जय हो!'

शुजा शराब का प्याला लिये सभासदों के साथ बैठा था। वह नशे के कारण लड़खड़ाये स्वर में अत्यन्त उपेक्षा से बोला—'बोलो, क्या बात है?'

सैनिक बोला—'जनाब, शत्रुपक्ष का जासूस हमारी शक्ति का पता लगाने आया था, मैं उसे पकड़कर आपके पास लाया हूँ।'

शुजा ने कहा—'अच्छा, अच्छा। बेचारा देखने आया था। उसे भली-भाँति सब कुछ दिखाकर छोड़ दो। अपने देश में जाकर वर्णन करेगा।'

रघुपति ने टूटी-फूटी हिन्दी में कहा—'मैं सरकार के आधीन नौकरी करना चाहता हूँ।'

शुजा ने नशे में हाथ हिलाकर उन्हें शीघ्र चले जाने का इशारा किया और बोला—'गरम।' जो पङ्खा झल रहा था वह दूने वेग से हवा करने लगा।

दारा ने अपने पुत्र सुलेमान को जयसिंह के साथ शुजा के आक्रमण का सामना करने के लिए भेजा था। उनकी सेना समीप आ पहुँची है, यह समाचार पहुँच चुका था। इसीलिए विजयगढ़ के किले पर अधिकार करने हेतु उसी स्थान पर सेना को इकट्ठा करने के लिए शुजा व्यस्त हो उठा। शुजा के हाथ में किला एवं सरकारी खजाना सौंप देने का प्रस्ताव लेकर विजयगढ़ के स्वामी विक्रमसिंह के पास दूत गया था। विक्रमसिंह ने उस दूत से ही कहला भेजा कि मैं केवल दिल्लीश्वर शाहजहाँ एवं जगदीश्वर भवानीपति को ही जानता हूँ। शुजा कौन है? मैं उसे कुछ नहीं जानता।

शुजा ने लड़खड़ाती आवाज में कहा—'बड़ा बे-अदब है, नाहक फिर लड़ाई करनी होगी। बड़ा हङ्गामा है।'

रघुपति ने यह सब सुन लिया। वे सैनिकों की निगाह बचा कर विजयगढ की ओर चले गये।

———

इक्कीसवाँ परिच्छेद

विजयगढ़ पर्वत के ऊपर था। विजयगढ़ का जंगल गढ़ के आस-पास में ही समाप्त हो गया था। जंगल से बाहर होकर रघुपति ने सहसा देखा कि दीर्घ-पाषाण-दुर्ग मानो नीलाकाश से टेक लगाकर खड़ा है। वन जिस प्रकार अपने हजारों वृक्षों के समूह में छिपा था दुर्ग भी उसी प्रकार अपने पाषाणों के बीच स्वयं रुद्ध था। वन सावधान था तो दुर्ग भी सतर्क। वन व्याघ्र के सदृश पिछले पैरों पर दुबक कर तथा पूँछ को लपेट कर बैठा था तथा दुर्ग सिंह के समान अयालों को फुलाये, गर्दन टेढ़ी करके खड़ा था। जंगल पृथ्वी से कान लगाकर जैसे कुछ सुन रहा था और दुर्ग आकाश की ओर सिर उठाकर कुछ देख रहा था।

रघुपति के जंगल से बाहर आते ही दुर्ग की दीवालों पर स्थित सैनिक चौकन्ने हो गये। तुरही बज उठी मानो दुर्ग सहसा सिंहनाद करके अपने दाँत और नख खोलकर तथा भौंहें टेढ़ी करके खड़ा हो गया है। रघुपति जनेऊ दिखाकर तथा हाथ उठाकर संकेत करने लगे। सैनिक सतर्क होकर खड़े रहे। जब रघुपति दुर्ग के समीप गये तब सैनिकों ने पूछा—'तुम कौन हो?'

रघुपति ने उत्तर दिया—'मैं ब्राह्मण अतिथि हूँ।'

दुर्ग के स्वामी विक्रमसिंह परम धर्मनिष्ठ थे। वे सदा देवब्राह्मण और अतिथि की सेवा में लगे रहते थे। जनेऊ के रहते हुए दुर्ग में प्रवेश करने के लिए अन्य किसी भी प्रकार के परिचय की आवश्यकता न थी, किन्तु आज युद्ध का दिन था अतः क्या करना उचित होगा इसे सैनिक निश्चय न कर पाये।

रघुपित ने फिर कहा—'तुम लोगों के आश्रय न देने पर मुझे मुसलमानों के हाथों मरना ही पड़ेगा।'

ज्योंही यह बात विक्रमसिंह के कानों तक पहुँची त्योंही उन्होंने ब्राह्मण को दुर्ग में आश्रय देने की अनुमति दे दी। दीवाल के ऊपर से एक

सीढ़ी उतार दी गई और रघुपति ने दुर्ग में प्रवेश किया।

दुर्ग के भीतर सभी युद्ध की प्रतीक्षा में व्यस्त थे। वृद्ध चाचा साहब ने ब्राह्मण के आतिथ्य सत्कार का भार स्वयं ले लिया। उनका वास्तविक नाम था खड्गसिंह किन्तु कोई तो उन्हें चाचा साहब कहता था और कोई सूबेदार साहब। जो कुछ भी लोग उन्हें पुकारते थे उसका कोई विशेष कारण प्रतीत न होता था। इस पृथ्वी तल पर न उनका कोई भतीजा था न कोई भाई ही। अतः चाचा होना न तो उनका अधिकार था न भविष्य में कोई सम्भावना ही एवं उनके जितने भतीजे थे उनसे उनका सूबा भी अधिक न था। फिर भी आज तक किसी ने भी उनकी इस उपाधि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की आपत्ति अथवा सन्देह प्रकाशित न किया। जो बिना भतीजे के चाचा हो तथा बिना सूबे के सूबेदार हो उसके लिए इस संसार की अनित्यता और लक्ष्मी की चंचलता का बन्धन तथा पदच्युत होने की थोड़ी भी आशङ्का नहीं रहती।

चाचा साहब ने आकर कहा—'वाह! वाह! यही तो ब्राह्मण हैं!' इतना कहकर उन्होंने भक्ति-पूर्वक प्रणाम किया। रघुपति की आकृति भी एक प्रकार तेजोमय दीप शिखा की भाँति थी जिसको देखकर लोग पतङ्गों के समान मुग्ध हो जाते थे।

चाचा साहब ने संसार की वर्तमान शोचनीय अवस्था को दुःखित होकर कहा—'महाराज, उस समय के सदृश ब्राह्मण आजकल भला कितने मिलते हैं?'

रघुपित—'बहुत ही कम।'

चाचा साहब—'पहले ब्राह्मणों के मुख में अग्नि निवास करती थी पर अब वह सारी अग्नि पेट में जा बसी है।'

रघुपति—'वह भी तो अब पहले के समान नहीं है।'

चाचा साहब ने सिर झुकाकर कहा—'ठीक बात है। अगस्त्य मुनि ने जिस अन्दाज से आचमन किया था यदि कहीं उसी अन्दाज से आहार करते होते! तनिक इसे एक बार विचार करके देखिए तो सही।'

रघुपति—'दूसरे उदाहरण भी हैं।'

चाचा साहब—'हाँ, हुई हैं। जह्नु मुनि के पिपासा की कथा सुनी जाती है। उनकी भूख की कथा कहीं भी लिखी नहीं किन्तु एक अनुमान तो किया ही जा सकता है। हरें खाने से कम खाया जाता है ऐसी बात नहीं। वे कितनी हरें प्रतिदिन खाते थे उसका एक हिसाब होता तभी बताया जा सकता था।'

रघुपति ने ब्राह्मणों की महिमा का स्मरण करके गम्भीरतापूर्वक कहा—'नहीं साहब, भोजन के प्रति उनकी यथेष्ठ रुचि न थी।'

चाचा साहब अपनी जीभ दाँतों से दबाकर बोले—'राम राम, क्या कहते हैं महाराज? उनकी जठराग्नि जितनी प्रबल थी उसका विशिष्ट प्रमाण है। आप जानते नहीं क्या? कालचक्र से अन्य सभी अग्नि बुझ गई यहाँ तक कि यज्ञ की भी अग्नि नहीं जलती किन्तु ......।'

रघुपति कुछ खिन्न होकर बोले—'भला यज्ञाग्नि अब कैसे जल सकती है। देश में घी रह ही कहाँ गया? यवन लोग सारी गायों को मारे डाल रहे हैं तब द्रव्य कहाँ से मिल सकता है? होमाग्नि के प्रज्वलित न होने से ब्रह्मतेज और कितने दिन टिकेगा?' इतना कहकर रघुपति अपनी प्रच्छन्नदाहक शक्ति का भली-भाँति अनुभव करने लगे।

चाचा साहब बोले—'ठीक कहा महाराज ने। गायें तो मरकर आज-कल मनुष्य योनि में जन्म लेने लग गई हैं। अब उनसे तो घी पाने की आशा की ही नहीं जा सकती। मस्तिष्क का सर्वथा अभाव है। अच्छा महाराज, कहाँ से आ रहे हैं?'

रघुपति बोले—'त्रिपुरा के राज महल से।'

विजयगढ़ के बाहर स्थित भारतवर्ष के भूगोल अथवा इतिहास के सम्बन्ध में चाचा साहब की जानकारी अत्यन्त ही कम थी। विजयगढ़ के अतिरिक्त भारतवर्ष में जानने योग्य दूसरा कुछ भी है इसमें उनका विश्वास न था। वे एकदम कल्पना के बल पर बोले—'क्या त्रिपुरा का राजा महान् राजा है।'

रघुपति ने उसका पूर्णतया समर्थन किया।

चाचा साहब—'महाराज करते क्या हैं ?'

रघुपति—'मैं त्रिपुरा का राज-पुरोहित हूँ।'

चाचा साहब ने आँखें मूँदकर तथा सिर हिलाकर कहा—'अहा ! रघुपति के प्रति उनकी भक्ति खूब बढ़ गई।' वे फिर बोले—'आपके आने का प्रयोजन महाराज ?'

रघुपति ने उत्तर दिया—'तीर्थ-दर्शन।'

एक धमाका हुआ। शत्रुओं ने दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। चाचा साहब ने हँसकर आँखें बन्द करते हुए कहा—'वह कुछ भी नहीं है। पत्थर फेंके जा रहे हैं।' विजयगढ़ के ऊपर चाचा साहब का विश्वास जितना दृढ़ था दुर्ग के पत्थर उतने दृढ़ न थे। विदेशी पथिक को दुर्ग में आने मात्र से चाचा साहब उसको पूर्णतया लेकर बैठ जाते तथा विजयगढ़ की महिमा उसके मन में जमा देते। त्रिपुरा के राजमहल से रघुपति आये थे और ऐसा अतिथि भी इस चराचर में नहीं मिलेगा इसीलिए चाचा साहब अत्यन्त उल्लास में थे। वे अतिथि के साथ विजयगढ़ के पुरातत्व के सम्बन्ध में आलोचना करने लगे।

उन्होंने कहा—'यह ब्रह्माण्ड एवं विजयगढ़ का दुर्ग प्रायः एक ही समय उत्पन्न हुए थे। मनु के बाद से ही महाराज विक्रमसिंह के पूर्वजों के अधिकार में यह दुर्ग चला आ रहा है इस विषय में शंका हो ही नहीं सकती।' इस दुर्ग के प्रति शिव का कौन-सा वर है तथा इसमें कार्त्तिकेय वीर अर्जुन किस प्रकार बन्दी बनाये गये थे इससे भी रघुपति अपरिचित न रहे।

सन्ध्या समय समाचार मिला कि शत्रुपक्ष दुर्ग को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचा सके। उन्होंने तोपें लगाई थीं किन्तु तोपों के गोले दुर्ग तक पहुँचा ही न पाते। चाचा साहब ने हँसकर रघुपति की ओर देखा। उनका मतलब था कि दुर्ग के प्रति भगवान शंकर का जो अमोघ वर है उसका इससे बढ़कर प्रमाण दूसरा हो ही क्या सकता है। मालूम होता है नन्दी स्वयं आकर तोपों के गोलों को उठा ले गये और कैल श

पर गणपति तथा कार्त्तिकेय उसे गेंद की तरह खेलेंगे।

बाईसवाँ परिच्छेद

शाह शुजा को किसी भी प्रकार अपने वश में करना ही रघुपति का उद्देश्य था। जब उन्होंने सुना कि शुजा दुर्ग पर आक्रमण करने लगे हैं तो विचार किया कि मित्र भाव से दुर्ग में आकर किसी-न-किसी उपाय से दुर्ग पर आक्रमण करने में शुजा को सहायता पहुँचाऊँगा। किन्तु ब्राह्मण तो युद्ध इत्यादि के बारे में कुछ भी नहीं जानते अतः किस प्रकार शुजा की सहायता की जा सकेगी इसको वे सोच न सके।

दूसरे दिन फिर युद्ध प्रारम्भ हुआ। शत्रुओं ने बारूद के प्रयोग से दुर्ग के प्राचीर का कुछ अंश उड़ा दिया। किन्तु बार-बार गोलियों की बौछार करने पर भी वे दुर्ग के भीतर प्रवेश न कर सके। टूटा भाग देखते-ही-देखते बनकर खड़ा हो गया। आज बीच-बीच में गोलियाँ दुर्ग के बीच आकर गिरने लगीं। दुर्ग के सैनिक दो-दो चार-चार करके मरने तथा घायल होने लगे।

'महाराज, कोई डरने की बात नहीं, यह तो तमाशा हो रहा है' इतना कहकर चाचा साहब रघुपति को लेकर दुर्ग के चारो ओर से दिखाते हुए घूमने लगे। कहाँ अस्त्रागार है, कहाँ भण्डार है, कहाँ घायलों का चिकित्सालय है, कहाँ पर बन्दी-गृह है, तथा कहाँ दरबार है—ये सारी चीजें एक-एक करके दिखाने तथा बार-बार रघुपति के मुख की ओर देखने लगे।

रघुपति ने कहा—'विशाल कारखाना है! त्रिपुरा का किला इसकी बराबरी नहीं कर सकता। किन्तु साहब, छिपकर भाग जाने के लिए त्रिपुरा के दुर्ग में एक आश्चर्य-जनक सुरङ्ग-मार्ग है पर यहाँ पर वैसी चीज नहीं देख रहा हूँ।'

चाचा साहब कुछ कहने ही जा रहे थे कि सहसा अपने को रोककर बोले—'न, इस दुर्ग में वैसा कुछ नहीं है।'

रघुपति ने बड़े आश्चर्य से कहा—'इतने बड़े दुर्ग में एक सुरङ्ग-मार्ग भी नहीं ! यह भला कैसी बात है ?'

चाचा साहब कुछ कातर होकर बोले—'नहीं, भला ऐसा कैसे हो सकता है ? अवश्य ही है परन्तु हम लोग नहीं जानते।'

रघुपति ने हँसकर कहा—'तब तो न रहने के ही समान है। जब आप ही नहीं जानते तो भला दूसरा कौन जानता होगा ?'

चाचा साहब अत्यन्त गम्भीर होकर कुछ देर तक चुप रहे। इसके बाद सहसा 'राम-राम' कहते हुए चुटकी बजाकर जम्हाई ली तथा बाद में अपनी मूँछ और दाढ़ी पर दो एक बार हाथ फेरकर हठात् बोल उठे—'महाराज पूजा-पाठ में लीन रहनेवाले आपसे कहने में हमें कोई दोष नहीं। दुर्ग में प्रवेश करने तथा बाहर जाने के लिए दो गुप्त मार्ग हैं। किन्तु किसी भी बाहरी व्यक्ति को उसे दिखाने की आज्ञा नहीं है।'

रघुपति ने कुछ सन्देहपूर्ण स्वर में कहा—'हाँ, होगा।'

चाचा साहब ने समझ लिया कि अपने ही दोष के कारण एक बार 'नहीं' और फिर 'हाँ' कहने से लोगों में स्वभावतः ही सन्देह उत्पन्न हो जाता है। एक अन्य राज्य में रहनेवाले व्यक्ति की दृष्टि में त्रिपुरा के किले के समकक्ष विजयगढ़ किसी भी अंश में कम हो जाय यह बात चाचा साहब के लिए असह्य थी।

उन्होंने कहा—'महाराज, मैं समझता हूँ आप त्रिपुरा से काफी दूर हैं तथा आप ब्राह्मण हैं, देवताओं की पूजा करना ही आपका एकमात्र कार्य है। अतः आप द्वारा किसी बात के फूटने का भय नहीं।'

रघुपति बोले—'मतलब ही क्या है, साहब। सन्देह है तो सारी बातें रहने ही दीजिए न। मैं ब्राह्मण हूँ, भला मुझे दुर्ग की बातों से क्या प्रयोजन।'

चाचा साहब ने जीभ को दाँतों से दबाते हुए कहा—'अरे ! राम राम ! फिर आप पर सन्देह कैसा ? चलिए, एक बार दिखा लाऊँ।'

उधर सहसा दुर्ग के बाहर शुजा की सेना में भगदड़ मच गई। वन

के मध्य में शुजा का शिविर था। सुलेमान तथा जयसिंह की सेनाओं ने आकर सहसा उसको बन्दी बना लिया तथा छिपकर दुर्ग पर आक्रमण करने वालों पर टूट पड़ीं। शुजा की सेना लड़ाई से विमुख होकर बीस तोपों को फेंककर भाग गई।

दुर्ग के भीतर चहल-पहल मच गई। विक्रमसिंह के पास जैसे ही सुलेमान का दूत पहुँचा उन्होंने दुर्ग का फाटक खुलवा दिया। वे स्वयं आगे आकर सुलेमान तथा राजा जयसिंह को सम्मान के साथ ले आये। दिल्लीश्वर की सेना तथा हाथी-घोड़ों से दुर्ग भर गया। झण्डा फहराने लगा। शङ्ख तथा रणभेरियाँ बजने लगीं एवं चाचा साहब की पकी मूछों के नीचे प्रसन्नता के कारण उनके दाँत पूर्ण-रूपेण प्रस्फुटित हो उठे।

तेईसवाँ परिच्छेद

यह चाचा साहब के लिए कितने आनन्द का दिन था। आज दिल्लीश्वर के राजपूत सैनिक विजयगढ़ के अतिथि हुए थे और महाप्रतापशाली शुजा बन्दी। कार्त्तिकेय वीर अर्जुन के बाद से विजयगढ़ में इस प्रकार के बन्दी हुए ही नहीं। कार्त्तिकेय वीर अर्जुन के बन्धन की दशा का स्मरण करके निःश्वास छोड़कर चाचा साहब ने राजपूत सुचेतसिंह से कहा—'विचारपूर्वक देखो! हजारों हाथों में हथकड़ी पहनाने के लिए कितना आयोजन करना पड़ा है। कलियुग आ जाने के कारण समय की एकदम कमी हो गई है। इस समय चाहे राजा का लड़का हो या बादशाह का, इस संसार में किसी के भी दो हाथ से अधिक खोजने पर भी नहीं मिल सकता, बाँधने में सुख नहीं है।'

सुचेतसिंह ने हँसते हुए अपने हाथ की ओर देखकर कहा—'ये दो हाथ ही काफी हैं।'

चाचा साहब कुछ सोचकर बोले—'यह तो हई है। उस समय काम बहुत अधिक रहता था। आज-कल काम इतना कम है कि इन दोनों

हाथों के कार्य का कोई विवरण नहीं दिया जा सकता। और हाथ होते तो उन्हें मूँछों पर उतना ही फेरने में आता।'

आज चाचा साहब की वेश-भूषा में कोई कमी न थी। ठुड्डी के नीचे की सफेद दाढ़ी को दो भागों में विभक्त कर दोनों कानों पर लटका दी गई। मूँछ के दोनों सिरे ऐंठकर कर्ण-विवरों के समीप तक पहुँचा दिये गये थे। सिर पर सुन्दर साफा और कमर में सुन्दर तलवार शोभित थी। जरी के जूते का अग्रभाग सिंह के समान टेढ़ा मुड़कर उठा हुआ था। आज चाचा साहब के चलने में इतनी भाव-भङ्गिमा थी मानो विजयगढ़ की सम्पूर्ण महिमा उन्हीं के समस्त अंगों में तरङ्गित हो उठी थी, आज सम्पूर्ण समझदार लोगों के समक्ष विजयगढ़ की महिमा प्रमाणित हो जायगी—इसी आनन्द के कारण उनको भूख थी न नींद।

वे सुचेतसिंह को साथ लेकर प्रायः दिन भर दुर्ग का निरीक्षण करते रहे। सुचेतसिंह जहाँ पर किसी भी प्रकार का आश्चर्य प्रकट न करते वहाँ चाचा साहब स्वयं 'वाह-वाह' करके अपना उत्साह उस वीर राजपूत के हृदय में संचारित करने का प्रयत्न करते। विशेषकर दुर्ग की चहारदिवारी की बनावट के सम्बन्ध में उनको अधिक परिश्रम करना पड़ा। दुर्ग की चहारदिवारी जितनी अविचलित थी सुचेतसिंह उतना ही दृढ़। उनके मुख पर किसी भी प्रकार का भाव लक्षित न होता था। चाचा साहब घुमा-फिराकर उनको कभी दुर्ग के बायें, कभी दाहिने, कभी ऊपर और कभी नीचे ले आते। वे बार-बार कहने लगे—'कितना सुन्दर है!' किन्तु कुछ भी सुचेतसिंह के हृदय दुर्ग पर अधिकार न कर सका। अन्त में सायंकाल थककर सुचेतसिंह बोले—'मैंने भरतपुर का किला देखा है। दूसरा कोई भी किला मेरी नजरों में नहीं बैठता।'

चाचा साहब किसी के साथ कभी भी वाद-विवाद न करते थे। वे अत्यन्त खिन्न होकर बोले—'अवश्य, अवश्य यह बात तो कह ही सकते हैं।'

उन्होंने एक लम्बी साँस छोड़कर दुर्ग के विषय में वाद-विवाद करना

बन्द कर दिया। उन्होंने विक्रमसिंह के पूर्वज दुर्गासिंह की चर्चा छेड़ दी। वे बोले—'दुर्गासिंह के तीन पुत्र थे। सबसे छोटे पुत्र चित्रसिंह का एक विचित्र अभ्यास था। वे प्रतिदिन प्रातःकाल आध सेर के करीब चना दूध में उबाल कर खा लेते थे। उनका शरीर भी उसी प्रकार था। अच्छा जी, तुमने जो भरतपुर के किले की बात कही वह अवश्य ही बड़ा विशाल गढ़ होगा। किन्तु ब्रह्मवैवर्त-पुराण में उसका कहीं उल्लेख नहीं है।'

सुचेतसिंह ने हँसकर उत्तर दिया—'तो उस बात में इससे कोई बाधा नहीं।'

चाचा साहब ने झूठी हँसी हँसकर कहा—'हाः! हाः! हाः! तो ठीक है, ठीक है। तो क्या समझे! त्रिपुरा का किला भी कुछ कम नहीं। किन्तु विजयगढ़ ··।'

सुचेतसिंह—'त्रिपुरा कौन-सा नगर है?'

चाचा साहब—'वह बहुत बड़ा नगर है। अधिक बातचीत से क्या मतलब। वहाँ के राजपुरोहित हमारे दुर्ग में अतिथि हैं, तुम उनके ही मुँह से सब कुछ सुन लोगे।'

किन्तु ब्राह्मण आज कहीं खोजने पर भी न मिला। चाचा साहब के प्राण उस ब्राह्मण के लिए रोने लगे। वे मन-ही-मन कहने लगे—'इन देहाती राजपूतों से तो वह ब्राह्मण कहीं अच्छा था।' वे सुचेतसिंह के सामने रघुपति की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे एवं विजयगढ़ के विषय में रघुपति के विचार भी बताने लगे।

———

चौबीसवाँ परिच्छेद

चाचा साहब से छुटकारा पाने के लिए सुचेतसिंह को और अधिक प्रयास न करना पड़ा। कल प्रातःकाल बन्दी के साथ सम्राट् की सेना की यात्रा का दिन निश्चित हो गया था। यात्रा की तैयारी के लिए सैनिक नियुक्त हो गये थे। बन्दी-गृह में शाह शुजा अत्यन्त असंतुष्ट होकर मन-ही मन कह रहा था—'ये लोग कितने बे-अदब हैं? शिविर में से मेरा हुक्का तक ले आने का ध्यान इनके मन में न पैदा हुआ।'

विजयगढ़ के पहाड़ के तल में एक बहुत बड़ा गड्ढा था। उस गड्ढे के किनारे एक स्थान पर बिजली गिरने के कारण जले हुए एक पीपल के वृक्ष का तना था। उस तने के समीप बराबरी में स्थिर होकर रघुपति ने अपने को उस घोर रात्रि में छिपा लिया और अदृश्य हो गये।

गुप्त रीति से दुर्ग में प्रवेश करने के लिए जो सुरङ्ग का रास्ता था उसका प्रवेश-द्वार इसी गड्ढे की तह में था। इस रास्ते से बराबर सुरङ्ग के किनारे पहुँचकर नीचे से जोर का धक्का देने पर एक पत्थर उठ जाता था, ऊपर से वह किसी प्रकार नहीं उठाया जा सकता था। अतः जो दुर्ग के भीतर रहते, वे इस मार्ग द्वारा बाहर न आ सकते थे।

कारागार के पलङ्ग पर शुजा सोया हुआ था। उस पलङ्ग को छोड़कर कमरे में दूसरा कोई बिस्तर न था। एक दीपक जल रहा था। सहसा उस कमरे में एक छेद हो गया। धीरे-धीरे सिर उठाकर रघुपति नीचे से ऊपर आ गये। उनका सारा शरीर भीगा हुआ था। नीचे वस्त्रों से जल की धारा बह रही थी। उन्होंने धीरे-धीरे शुजा को स्पर्श किया।

शुजा चौंककर आँखें गड़ाये हुए कुछ देर तक बैठा रहा। बाद में आश्चर्य-भरी वाणी में बोला—'क्या हङ्गामा है? यह क्या बात है कि

मुझे अब रात को भी सोने न दोगे। तुम्हारे व्यवहार से आश्चर्य हो रहा है।'

रघुपति ने धीरे से कहा—'शाहजादा उठने की कृपा करें। मैं वही ब्राह्मण हूँ। मुझे याद कर देखें। भविष्य में भी मुझे याद रखिएगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल सम्राट् की सेना यात्रा के लिए तैयार हुई। शुजा को नींद से जगाने के लिए राजा जयसिंह स्वयं बन्दी-गृह में गये। उन्होंने देखा कि शुजा उस समय तक बिछौने से उठा न था। समीप जाकर उन्होंने उसको स्पर्श किया और देखा कि शुजा न था। केवल उसके वस्त्र पड़े हुए थे परन्तु शुजा न था। कमरे के फर्श में सुरङ्ग का छेद था। उस पर का ढक्कन का पत्थर खुला पड़ा था।

बन्दी के भाग जाने का समाचार दुर्ग में फैल गया। खोजने के लिए चारो ओर दूत छोड़े गये। राजा विक्रमसिंह का सिर नीचा हो गया। बन्दी किस प्रकार भाग गया इसके विचारार्थ सभा बैठी।

चाचा साहब की वह गर्वयुक्त प्रसन्नता कहाँ गई? वे पागल की तरह 'ब्राह्मण कहाँ' पुकारते हुए रघुपति को घूम-घूम कर खोजने लगे, पर ब्राह्मण कहीं भी न था। चाचा साहब साफा उतार कुछ देर तक सिर पर हाथ रक्खे बैठे रहे। सुचेतसिंह भी समीप आकर बैठ गये। बोले—'चाचा साहब, कितने आश्चर्य की बात है! क्या यह सब कुछ भूतों का काम है?

चाचा साहब ने खिन्न होकर सिर नीचा किये हुए कहा—'नहीं, यह भूतों का काम नहीं। सुचेतसिंह, यह एक बूढ़े व्यक्ति का काण्ड है और है एक विश्वासघाती, पाखण्डी का काम।

सुचेतसिंह आश्चर्यचकित होकर बोले—'यदि आप जानते हैं तो गिरफ्तार क्यों नहीं करा देते उन्हें?'

चाचा साहब ने कहा—'उनमें से एक तो भाग गया है और दूसरे को गिरफ्तार करके राजसभा में ले जा रहा हूँ।' इतना कहकर उन्होंने साफा पहन लिया और राज-सभा के उपयुक्त वेष धारण किया।

इस समय सभा में संतरियों का बयान लिया जा रहा था। चाचा

साहब ने सिर नीचा किये हुए प्रवेश किया। विक्रमसिंह के चरणों में तलवार खोलकर रख दी और बोले—'मुझे बन्दी बनाने की आज्ञा दीजिए, मैं अपराधी हूँ।'

राजा ने विस्मित होकर कहा—'चाचा साहब, मामला क्या है?'

चाचा साहब बोले—वही ब्राह्मण। यह सब कुछ उसी बङ्गाली ब्राह्मण का काम है।'

राजा जयसिंह ने पूछा—'तुम कौन हो?'

चाचा साहब—'मैं विजयगढ़ का बूढ़ा चाचा साहब हूँ।'

जयसिंह—'तुमने क्या किया है?'

चाचा साहब—'मैंने विजयगढ़ का गुप्त रहस्य बतलाकर विश्वास-घातक का काम किया है। मैंने बहुत बड़े मूर्ख की तरह विश्वास करके उस बङ्गाली ब्राह्मण को सुरङ्ग-मार्ग की बात बता दी थी।'

विक्रमसिंह सहसा तमतमा कर बोल उठे—खड्गसिंह!'

चाचा साहब चौंक पड़े। वे प्रायः भूल-से गये थे कि उन्हीं का नाम था खड्गसिंह।

विक्रमसिंह बोले—'खड्गसिंह! इतने दिनों के बाद क्या तुम फिर भी बच्चे हो गये हो?'

चाचा साहब सिर नीचा किये चुप रहे।

विक्रमसिंह—'चाचा साहब! तुमने यह काम किया है! तुम्हारे हाथों आज विजयगढ़ का अपमान हुआ है।'

चाचा साहब चुपचाप खड़े रहे। उनका हाथ थरथर काँपने लगा। काँपते हुए हाथ से मस्तक को छूकर उन्होंने मन-ही-मन में कहा—'दुर्भाग्य!'

विक्रमसिंह ने फिर कहा—'हमारे दुर्ग से दिल्लीश्वर का शत्रु भाग गया! याद कर लो, तुम्हीं ने मुझे दिल्लीश्वर के समक्ष अपराधी ठहराया है!'

चाचा साहब बोले—'केवल मैं ही अपराधी हूँ। आपके अपराधी होने की बात पर दिल्ली सम्राट् कभी भी विश्वास न करेंगे।'

विक्रमसिंह ने विरक्त होकर कहा—'तुम कौन हो? तुम्हारा पता दिल्लीश्वर को क्या है? तुम तो हमारे ही नौकर हो, तो इसका अर्थ है कि मैंने स्वयं अपने हाथों बन्दी का बन्धन खोल दिया है।'

चाचा साहब निरुत्तर हो गये। वे अब अधिक समय तक अपने नेत्रों के आँसू न रोक सके।

विक्रमसिंह—'तो तुमको क्या दण्ड दूँ?'

चाचा साहब—'महाराज की जो इच्छा।'

विक्रमसिंह—'तुम बूढ़े आदमी हो। तुम्हें कौन-सा विशेष दण्ड दूँ? देश-निकाला ही तुम्हारे लिए काफी है।'

चाचा साहब विक्रमसिंह के पैरों को जोर से पकड़कर बोले—'विजयगढ़ से निर्वासन! न, महाराज मैं बूढ़ा हूँ, मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। मुझे विजयगढ़ में ही मरने दीजिए। मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दे दीजिए। इस बुढ़ापे में सियार-कुत्तों की तरह मुझे विजयगढ़ से न भगाइए।'

राजा जयसिंह बोले—'महाराज, मेरा अनुरोध है कि आप इनका अपराध क्षमा कर दें। मैं सम्राट् को सारी बातें समझा दूँगा।'

चाचा साहब को क्षमा मिल गई। सभा से बाहर जाते समय वे काँपकर गिर पड़े। उस दिन से चाचा साहब अधिकतर दिखाई न पड़ते थे। घर से बाहर निकलते न थे मानो उनकी रीढ़ टूट गई थी।

पचीसवाँ परिच्छेद

ब्रह्मपुत्र के किनारे गूजरपाड़ा नामक एक छोटा-सा गाँव था। इसके जमींदार थे पीताम्बर राय। गाँव में निवासी भी अधिक न थे। पीताम्बर अपने पुराने चण्डी-मण्डप में बैठे हुए अपने को राजा कहा करते और प्रजा भी उन्हें राजा ही कहा कहती थी। उनकी राज-महिमा आम्रादि वृक्षों से घिरे हुए इस छोटे से गाँव में ही विराजमान थी। उनका यश इसी ग्राम के

निकुञ्जों में ध्वनित होकर इसकी सीमा के अन्तर्गत ही विलीन सो जाता। संसार के बड़े-बड़े सम्राटों का प्रचंड प्रताप भी इस छाया-युक्त नीड़ में प्रवेश न कर पाता था। केवल तीर्थ-स्नान के उद्देश्य से नदी के किनारे त्रिपुरा के राज-वंश का एक विशाल भवन था किन्तु बहुत समय से राज-कुल का कोई भी आदमी स्नान करने न आया था। इसी लिए त्रिपुरा के राजा के सम्बन्ध में गाँव के निवासियों के बीच केवल एक अस्पष्ट अफवाह प्रचलित थी।

एक दिन भादों के महीने में यह खबर फैली कि त्रिपुरा के एक राजकुमार नदी के किनारेवाले पुराने महल में रहने के लिए आ रहे हैं। कुछ दिनों के बाद बड़ी-बड़ी पगड़ी बाँधे हुए लोगों ने आकर महल में बड़ी चहल-पहल मचा दी। इसके लगभग एक सप्ताह के बाद, हाथी, घोड़ा और लाव-लश्कर लिये नक्षत्र राय गूजरपाड़ा ग्राम में स्वयं आ उपस्थित हुए। उस धूम-धाम को देखकर गाँव के निवासी अवाक् रह गये। वे इतने दिनों तक पीताम्बर राय को समझते थे किन्तु आज वैसी बात उनके मन में न बैठती थी। नक्षत्र राय को देखकर सभी ने एक स्वर से कहा—'हाँ! राजकुमार तो इसी प्रकार के होते ही हैं।'

इस प्रकार पीताम्बर राय अपने पक्के दालान और चण्डी-मण्डप के साथ एकाएक लुप्त तो हो गये किन्तु उनके आनन्द की सीमा तक न रही। नक्षत्र राय को इस प्रकार राजा समझकर वे अनुभव करने लगे कि अपनी राज-महिमा को उनके चरणों में पूर्णतया सौंपकर मानो वे अत्यन्त सुखी हुए हैं। कदाचित नक्षत्र राय के हाथी पर चढ़कर बाहर आने पर वे अपनी प्रजा को सम्बोधित करके कहते—'क्या तूने राजा देखा है? देख ले, देख ले वह राजा है।'

मछली तथा तरकारी आदि खाने वाले सामानों का उपहार लेकर पीताम्बर राय प्रति-दिन नक्षत्रराय को देखने आते थे। उनके तरुण एवं सुन्दर मुख को देखकर पीताम्बर राय का प्रेम उमड़ पड़ता। इस तरह

नक्षत्र राय ही उस गाँव के राजा हो गये और पीताम्बर राय प्रजा में मिल गये।

प्रति-दिन तीनों समय नौबत बजने लगी। गाँव के रास्तों पर हाथी-घोड़े चलने लगे। राजद्वार पर नङ्गी तलवारों की चमक खेलने लगी और गाँव में दूकानें लग गईं। पीताम्बर राय और उनकी प्रजा पुलकित हो उठी। नक्षत्र राय इस निर्वासन में राजा होकर अपने सारे दुःखों को भूल गये। यहाँ पर राज-पाठ का भार कुछ भी न था पर सभी प्रकार के राज-सुख थे। यहाँ पर वे एकदम स्वतन्त्र थे। अपने नगर में उनका ऐसा प्रबल प्रताप न था। इसके अलावा यहाँ पर रघुपति की छाया तक न थी। अपने इस मानसिक सुख के कारण नक्षत्र राय विलासिता में डूब गये। ढाका नगर से नाचने-गाने वाले आ गये। नाचने तथा गाने बजाने के प्रति नक्षत्र राय की तिल-मात्र भी अरुचि न थी।

नक्षत्र राय ने त्रिपुरा-राज्य की सभी बातों का अनुसरण किया। नौकरों में किसी का नाम रक्खा मन्त्री और किसी का सेनापति। पीताम्बर राय दीवान जी नाम से पुकारे जाने लगे। नियमानुसार राजदरबार लगने लगा। नक्षत्र राय मामलों पर बड़े आडम्बरपूर्वक विचार करते थे।

नकुड़ ने आकर नालिश की—'माथुर ने मुझे कुत्ता कहा है।' उसका विधिवत विचार होने लगा। अनेक प्रमाणों के एकत्र हो जाने के बाद माथुर दोषी सिद्ध हुआ। नक्षत्र राय ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक न्यायाधीश के आसन से आज्ञा दी कि नकुड़ माथुर को दो कनेठी दे।

इस प्रकार से सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। किसी-किसी दिन कोई काम न रहने पर वे किसी नये आमोद-प्रमोद के लिए मन्त्री को बुला लेते। मन्त्री राज-सभासदों को एकत्र करके अत्यन्त उद्विग्नता और व्याकुलता से नये खेल-तमाशे दिखलाने में लग जाते। उस समय गम्भीर चिन्ता और परामर्श की सीमा न रहती। एक दिन सेनाओं के साथ पीताम्बर राय के चण्डी-मण्डप पर आक्रमण किया गया तथा उनके पोखरे से मछली, बगीचे से डाब (नारियल) और पालकी का साग लूटे गये।

सामानों के समान अत्यन्त धूम-धाम से बजा बजाकर महल में ले आया गया। इस प्रकार के खेलों से नक्षत्र राय के प्रति पीताम्बर राय का स्नेह और भी बढ़ने लगा।

आज महल में बिल्ली के बच्चों का विवाह था। नक्षत्र राय के पास एक बिल्ली थी। उसके साथ महल के बिलाव का विवाह होने वाला था। इस विवाह में चूड़ामणि को मध्यस्थता करने के नाते तीन सौ रुपया और एक शाल मिला। हल्दी आदि का रस्म समाप्त हो गया था। आज सन्ध्या समय शुभलग्न में विवाह होने वाला था। इसलिए कई दिनों से राजमहल से किसी को तिल-मात्र भी अवकाश न मिलता था।

सायंकाल रास्ते तथा घाट दीपकों से आलोकित हो गये और नौबत बजने लगी। मण्डप के घर से पीनस पर चढ़कर किमखाब का वस्त्र पहने हुए पात्र अत्यन्त कातर स्वर में म्याऊँ-म्याऊँ करते हुए चले। मण्डल के घर से एक छोटा बालक सहबाला की तरह पात्र के गले की रस्सी पकड़े साथ-साथ आ रहा था। मङ्गलाचरण के साथ पात्र-मण्डप में विराजमान हुए।

पुरोहित का नाम था केना राय किन्तु नक्षत्र राय ने उनका नाम रक्खा था रघुपति। वे असली रघुपति से डरते थे इसी कारणवश नकली रघुपति के बहाने खेल करके प्रसन्न होते थे, यहाँ तक कि बात-बात में उसको दुःख भी देते थे। बेचारे केना राय चुपचाप सब कुछ सहन कर लेते थे। आज दुर्भाग्य से केना राय दरबार में नहीं आये। उनका लड़का सरेसाम घर में मर रहा था।

नक्षत्र राय ने अधीरतापूर्वक पूछा—'रघुपति कहाँ हैं?'

सेवक ने उत्तर दिया—'उनके घर में बीमारी है।'

नक्षत्र राय ने दुबारा चिल्लाकर कहा—'बुलाओ उसको।'

लोग बुलाने के लिए निकल पड़े। उसी समय रोते हुए बिल्ली के बच्चों के सम्मुख नाच-गान होने लगा।

नक्षत्र राय ने कहा—'सहाना गाओ।'

सहाना राग प्रारम्भ हो गया।

कुछ समय पश्चात् सेवक ने आकर निवेदन किया—'महाराज! रघुपति आये हैं।'

नक्षत्र राय ने क्रोधित होकर कहा—'बुलाओ।'

उसी क्षण पुरोहित ने घर में प्रवेश किया। पुरोहित को देखते ही नक्षत्र राय का क्रोध न जाने कहाँ विलीन हो गया। उनके भाव एकदम बदल गये। उनका मुख विकृत हो गया और मस्तक पर पसीने की बूँदें झलझला आईं। सहाना राग, सारङ्ग तथा मृदंग सहसा बन्द हो गये। केवल बिल्लियों का म्याऊँ-म्याऊँ शब्द उस शान्त घर में जाग उठा।

यह तो 'रघुपति' ही हैं—इसमें और कोई सन्देह नहीं। बड़ी-बड़ी अन्दर की ओर धँसी हुई उनकी तेजस्वी आँखें, बहुत दिनों के भूखे कुत्ते की आँखों के समान जल रही थीं। वे धूल से भरे हुए अपने पैरों को किमखाब की मसनद पर रख कर सिर ऊँचा करके खड़े हो गये और बोले—'नक्षत्र राय!'

नक्षत्र राय चुप रहे।

रघुपति ने फिर कहा—'तुमने रघुपति को बुलाया था और मैं आ गया हूँ।'

नक्षत्र राय ने अस्पष्ट वाणी में कहा—'ठाकुर!'

रघुपति बोले—'उठकर यहाँ आओ!'

नक्षत्र राय धीरे-धीरे उस सभा से उठ गये। बिलाव के विवाह का सहाना और सारङ्ग एक साथ ही बन्द हो गया।

———

छब्बीसवाँ परिच्छेद

रघुपति ने पूछा—'यह सब क्या हो रहा था?'

नक्षत्र राय ने सर के बालों को खुजलाते हुए कहा—'नाच हो रहा था।'

रघुपति घृणा से कुञ्चित होकर बोले—'छिः! छिः!'

नक्षत्र राय अपराधी के समान खड़े रहे।

नक्षत्र राय ने पूछा—'कहाँ चलना होगा?'

रघुपति—'यह बात बाद में होगी—सब से पहले मेरे साथ बाहर चलो।'

नक्षत्र राय—'मैं यहाँ बड़े मजे में हूँ।'

रघुपति—'मजे में हूँ? तुम राजकुल में पैदा हुए हो, तुम्हारे सभी पूर्वज राज्य करते चले आये। एक तुम हो जो इस वन-प्रदेश में शृगाल-राजा होकर पड़े हो और कहते हो मजे में हूँ!'

रघुपति ने अपने तीखे वाक्यों एवं कटु कटाक्षों द्वारा प्रमाणित कर दिया कि नक्षत्र राय मजे में नहीं हैं। नक्षत्र राय भी रघुपति के मुख के तेज से प्रभावित होकर कुछ-कुछ वैसा ही समझने लगे। वे बोले—'मजे में क्या? किसी प्रकार हूँ। किन्तु और करता ही क्या? उपाय ही क्या है?'

रघुपति—'उपाय तो बहुत-से हैं, उपाय की कमी नहीं है। मैं तुम्हें उपाय बता दूँगा। तुम मेरे साथ चलो।'

नक्षत्र राय—'एकबार दीवान जी से जरा पूछ लूँ।'

रघुपति—'नहीं।'

नक्षत्र राय—'और हमारा यह सब साज-सामान?'

रघुपति—'कुछ जरूरत नहीं।'

नक्षत्र राय—'और लोग-बाग...।'

रघुपति—'आवश्यकता नहीं।'

नक्षत्र राय—'हमारे पास इस वक्त पर्याप्त रुपया नहीं है।'

रघुपति—मेरे पास है। विशेष टाल-मटोल न करो। आज सोने जाओ। कल प्रातःकाल ही यात्रा करनी होगी।' इतना कहकर रघुपति किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना चले गये।

उसके दूसरे दिन जब नक्षत्र राय उठे उस समय बन्दी-जन सुन्दर रागनियों में मधुर गान गाने लगे। नक्षत्र राय ने कमरे के बाहर आकर

खिड़की से बाहर की ओर देखा। पूर्व दिशा में सूर्योदय हो रहा था और उसकी लाल रेखा दिखाई पड़ रही थी। दोनों किनारों के घने लता-गुल्मों के बीच से होकर छोटे-छोटे प्रसुप्त ग्राम-समूहों के द्वार के समीप से होती हुई ब्रह्मपुत्र नदी अपने अगाध जल को लिये तीव्र गति से बहती चली जा रही थी। महल के जँगले से नदी के किनारे की एक छोटी-सी कुटिया दिखाई पड़ रही थी। एक लड़की आँगन में झाड़ू लगा रही थी। एक पुरुष उसके साथ दो-एक बातें करके सिर पर चादर बाँधे एक बड़े बाँस की लाठी के सिरे पर गठरी लटकाकर निश्चिन्त होकर कहीं जाने के लिए बाहर निकला। श्यामादि चिड़ियाँ सीटी बजा रही थीं तो कहीं कोई एक बड़े कटहल के वृक्ष के घने पल्लवों में बैठकर गीत गा रही थी। खिड़की पर खड़े, बाहर की ओर देखते हुए नक्षत्र राय के हृदय से गम्भीर दीर्घ निःश्वास उठा और इसी समय पीछे से आकर रघुपति ने उनका स्पर्श किया। नक्षत्र राय चौंक पड़े। रघुपति ने गम्भीर और मीठे स्वर में कहा—'यात्रा के लिए सब कुछ ठीक है न ?'

नक्षत्र राय ने हाथ जोड़कर बड़ी कातरतापूर्वक कहा—'ठाकुर ! हमें क्षमा करो ठाकुर ! मैं कहीं भी जाना नहीं चाहता। मैं यहाँ मजे में हूँ।'

रघुपति ने एक शब्द भी न कहते हुए नक्षत्र राय के मुख पर अपनी अग्नि के समान तीव्र दृष्टि जमा दी। नक्षत्रराय ने आँखें नीची करके कहा—'कहाँ जाना होगा ?'

रघुपति—'यह बात इस समय नहीं हो सकती।'

नक्षत्र राय—'भइया के विरुद्ध मैं कोई षड्यन्त्र न कर सकूँगा।'

रघुपति जल उठे और बोले—'भइया ने तुम्हारा कौन-सा बड़ा उपकार कर दिया है ? सुनूँ तो।'

नक्षत्रराय मुँह फेरकर जङ्गले के ऊपर कुरेदते हुए, बोले—'मैं जानता हूँ वे मुझे बहुत प्यार करते हैं।'

रघुपति ने तेज और रूखी हँसी हँसकर कहा—'राम, राम ! कितना

प्रेम ! यही समझकर तो बिना विघ्न-बाधा के ध्रुव को युवराज के आसन पर बैठाने के लिए झूठा आरोप लगा कर भइया ने तुमको राज्य से निकाल दिया ताकि कहीं राज्य के भारी बोझ से यह मक्खन की गुड़िया के समान प्रेम से भरा भाई व्यथित न हो जाय। उस राज्य में अब फिर तुम आसानी से प्रवेश कर सकोगे ? मूर्ख।'

नक्षत्र राय ने झटपट कहा—'क्या मैं इस साधारण-सी बात को नहीं समझता ? मैं सब कुछ समझता हूँ, करूँ क्या ? कहिए तो सही। उपाय ही क्या है ?'

रघुपति—'उसी उपाय की बात तो हो रही है। उसी लिए तो आया हूँ। इच्छा हो तो मेरे साथ आओ, चलो, नहीं तो इसी बाँस के वन में बैठे-बैठे अपने हितैषी भैया का ध्यान करो। मैं तो चला।'

इतना कहकर रघुपति ने चलने का उपक्रम किया। नक्षत्र राय झट से उनके पीछे जाकर बोले—'मैं भी चलूँगा ठाकुर। किन्तु यदि दीवानजी जाना चाहें तो उन्हें साथ ले चलने में कौन-सी आपत्ति है ?'

रघुपति ने कहा—'मुझे छोड़कर अन्य कोई भी साथ न चलेगा।'

वर छोड़कर नक्षत्र राय के पैर बाहर निकलना न चाहते थे। आनन्द के इन सभी सामानों को छोड़कर और दीवानजी को छोड़कर रघुपति के साथ कहाँ जाना होगा ? किन्तु रघुपति मानो उनके बालों को पकड़कर घसीटे लिये जा रहे थे। उसके अलावा जैसे नक्षत्र राय के मन में एक प्रकार का भयभीत कौतूहल उत्पन्न होने लगा। उसका भी एक भीषण आकर्षण था।

नौका तैयार थी। नदी के किनारे पहुँचकर नक्षत्र राय ने देखा कि कन्धे पर गमछा रक्खे पीताम्बर राय स्नान करने आ रहे हैं। नक्षत्र राय को देखते ही पीताम्बर राय ने प्रसन्न मुख से कहा—'जय हो महाराज ! सुनता हूँ कि कल कहीं से एक अशुभ लक्षणवाले एक विचित्र ब्राह्मण ने आकर शुभ-विवाह में विघ्न डाल दिया था।'

नक्षत्र राय की स्थिति डाँवाडोल हो गई थी।

रघुपति ने गम्भीर स्वर में कहा—'मैं ही वह विचित्र ब्राह्मण हूँ।'

पीताम्बर राय हँस पड़े और बोले—'तब तो आपके ही सामने आपके ही बारे में कहना ठीक नहीं हुआ। जान-बूझ कर कौन बाप का बेटा ऐसा करता? आप कोई दूसरी बात मन में न सोचिएगा। पीठ पीछे लोग क्या नहीं कहते? जो मुझे मेरे मुँह पर राजा कहते हैं वे ही पीछे पित्तू (पीताम्बर राय)। मुँह पर कुछ नहीं कहना चाहिए। मैं तो यही समझता हूँ। क्या आप असली बात जानते हैं? आपकी मुखाकृति इतनी भारी और अप्रसन्न दिखाई पड़ रही थी कि किसी के भी मुख के ऐसे भाव को देखकर लोग उसकी निन्दा करते हैं। महाराज, इतने सबेरे नदी किनारे कैसे?'

नक्षत्र राय ने कुछ करुण स्वर में कहा—'मैं तो जा रहा हूँ दीवानजी।'

पीताम्बर राय—'जा रहे हैं, कहाँ? नौपाड़ा में मण्डल के घर?'

नक्षत्र राय—'नहीं दीवानजी, मण्डल के घर नहीं। बहुत दूर।'

पीताम्बर राय—'बहुत दूर! तो क्या पाइकघाट शिकार के लिए जा रहे हैं?'

नक्षत्र राय ने केवल एक बार रघुपति की ओर देखा और दुःखित होकर सिर हिला दिया।

रघुपति ने कहा—'दिन चढ़ता जा रहा है। आओ नाव पर चढ़ें।'

पीताम्बर राय ने अत्यन्त सन्देहपूर्वक व क्रोध से ब्राह्मण के मुँह की ओर देखकर कहा—'तुम कौन हो जी जो हमारे महाराज को हुक्म देने आये हो?'

नक्षत्र राय चिन्तित होकर पीताम्बर राय को एक ओर ले जाकर बोले—'वे हमारे गुरुदेव हैं।'

पीताम्बर राय ने कहा—'हों न गुरुदेव। वे हमारे चण्डी-मण्डप में रहें। चावल और केला दिला दूँगा। वे आदर से रहें। महाराज को उनको क्या आवश्यकता है?'

रघुपति—'समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है। अब मैं तो चल रहा हूँ।'

पीताम्बर राय—'जैसी इच्छा ! देर करने से लाभ क्या ? महाशय जी चटपट खिसकें, मैं महाराज को लेकर राजमहल को जा रहा हूँ।'

नक्षत्र राय एक बार रघुपति की ओर और फिर पीताम्बर राय की ओर देखकर मृदुस्वर में बोले—'नहीं दीवानजी, मैं जाऊँगा !'

तीताम्बर राय—'तो मैं भी चलूँगा। लोग-बाग को साथ ले लीजिए राजा के समान चलिए। राजा जा रहे हैं और साथ में दीवान जी न जायँगे ?'

नक्षत्र राय ने केवल रघुपति के मुख की ओर देखा।

रघुपति ने कहा—'कोई साथ में न जायेगा।'

पीताम्बर राय उग्र होकर बोले—'देखो जी तुम ··।'

नक्षत्र राय झटपट बीच में बोल उठे—'दीवानजी, मैं जाता हूँ, देर हो रही है !'

पीताम्बर राय दुःखी होकर नक्षत्रराय का हाथ पकड़कर बोले—'देखो भाई, मैं तुमको राजा कहता हूँ पर अपनी सन्तान के समान प्यार करता हूँ। मेरे कोई सन्तान नहीं है। तुम्हारे ऊपर मेरा जोर नहीं चल सकता। तुम चले जा रहे हो पर मैं तुमको जबरदस्ती पकड़कर नहीं रख सकता। किन्तु मेरा यह एक अनुरोध है कि जहाँ भी जाओ मेरे मरने के पहले लौट आना। मैं अपने हाथों अपने सम्पूर्ण राज-पाट को तुम्हें सौंप जाऊँगा। मेरी यही एक मात्र इच्छा है।'

नक्षत्र राय और रघुपति नाव पर चढ़ गये। नाव दक्षिण की ओर चल पड़ी। पीताम्बर राय स्नान करना छोड़कर, गमछा कन्धे पर रक्खे हुए अन्यमनस्क होकर लौट गये। गूजरपाड़ा मानो सुनसान हो गया और उसके सभी आमोद-प्रमोद समाप्त। केवल प्रतिदिन प्रकृति का नैतिक उत्सव, प्रातःकाल पक्षियों का गान, पत्तों की मर्र-मर्र ध्वनि और नदी की लहरों की ताली को विराम न था।

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

लम्बी राह। कहीं पर नदी, कहीं घना जङ्गल और कहीं छाया-रहित मैदान। कभी नाव से, कभी पैदल और कभी टट्टुओं पर, कभी धूप में, कभी वर्षा में, कभी कोलाहल-युक्त दिन के समय और कभी रात्रि के घोर अन्धकार में नक्षत्र राय बिना विश्राम किये चले जा रहे थे। कितने देश, कितने विचित्र दृश्य और कितने ही विचित्र लोग—किन्तु नक्षत्र राय के बगल में छाया की तरह क्षीण धूप के समान तेजोमय एक मात्र रघुपति ही लगातार लगे हुए थे। दिन को रघुपति, रात को और स्वप्न में भी रघुपति ही विराजमान रहते थे। रास्ते में यात्री चले जा रहे थे, मार्ग के किनारे धूल में बालक खेल रहे थे, बाजार में लोग क्रय-विक्रय कर रहे थे, गाँव में बूढ़े मनुष्य पासा खेल रहे थे, घाट पर युवतियाँ जल भर रही थीं और नाव में माझी गीत गाते हुए चले जा रहे थे, किन्तु नक्षत्र राय के बगल में दुबले-पतले रघुपति ही सदैव जागृत रहे। संसार में चारो ओर विचित्र खेल हो रहे थे, विचित्र घटनायें घटित हो रही थीं, किन्तु इस रङ्ग भूमि की विचित्र लीलाओं के बीच से नक्षत्र राय का भविष्य उन्हें घसीटे ले जा रहा था। अपने उनके लिए पराये थे और नगर शून्य मरुभूमि।

नक्षत्र राय ने थककर अपनी बगलवाली छाया से पूछा—'अब और कितनी दूर चलना होगा?'

छाया ने उत्तर दिया—'बहुत दूर।'

'कहाँ जाना होगा?'

इसका उत्तर न मिला। नक्षत्र राय एक लम्बी साँस छोड़कर फिर चलने लगे। लता-गुल्मों की पंक्तियों के बीच पत्तों द्वारा छाई हुई एकदम निर्जन और आच्छादित एक कुटी को देखकर उनके मन में आता कि कहीं

मैं इस कुटिया का रहने वाला होता ! गोधूलि के समय जब ग्वाले कन्धे पर लाठी रक्खे, मैदान से, पगडण्डी से धूल उड़ाते हुए गाय-बछड़े लेकर चलते तब नक्षत्र राय के मन में उठता—'कहीं मैं भी इनके साथ जा पाता, सन्ध्या समय घर जाकर विश्राम कर पाता !' दोपहर की तेज धूप में कृषक खेती कर रहे थे। उनको देखकर वे मन में सोचते—'अहा ! ये कितने सुखी हैं !'

रास्ते के कष्ट के कारण नक्षत्र राय कान्तिहीन, दुबले और मलिन हो गये थे। वे रघुपति से बोले—'ठाकुर ! मैं अब बच नहीं सकता।'

रघुपति ने कहा—'इस समय तुम्हें मरने कौन देगा ?'

नक्षत्र राय के मन में विचार आया कि रघुपति के फुरसत न देने से उन्हें तो मरने की भी सुविधा नहीं। एक स्त्री नक्षत्र राय को देखकर बोली—'किसका लड़का है ? इसको कौन बाहर मार्ग पर ले आया है ? इस बात को सुनकर उनके प्राण द्रवित हो गये। उनके नेत्रों में आँसू भर आये और उनकी इच्छा होने लगी कि उस स्त्री को माँ कहकर उसके साथ उसी के घर चले जायँ।

किन्तु नक्षत्र राय रघुपति द्वारा जितना ही कष्ट पाने लगे उतना ही वे उनके वश में होने लगे। रघुपति की अँगुली के संकेत पर उनकी सारी सत्ता संचालित होने लगी।

चलते-चलते क्रमशः नदी की बहुलता कम होने लगी। धीरे-धीरे कठोर पृथ्वी मिलने लगी, मिट्टी लाल कंकरीली, नगर दूर-दूर पर स्थित और पेड़ पौधे विरल। नारियल के वनवाले देश को छोड़कर दोनों पथिक ताल वन के देश में आ पहुँचे। बीच-बीच में बड़ा-बड़ा बाँध, सूखी हुई नदी और दूर-दूर पर बादल के समान पहाड़ दिखाई पड़ते थे। क्रमशः शाह शुजा की राजधानी राजमहल के समीप आने लगी।

———

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

अन्त में वे राजधानी में आ पहुँचे। पराजय तथा पलायन के बाद शुजा नई सेना एकत्र करने में लगा हुआ था किन्तु राजकोष में धन की कमी थी। प्रजा करों के भार से पीड़ित थी। इसी बीच दारा को पराजित कर एवं उसे जान से मार कर औरङ्गजेब दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया था। शुजा इस समाचार को पाकर एकदम विचलित हो गया। सेना आदि कुछ भी तैयार न थी इस कारण कुछ मौका पा जाने की आशा से उसने छल-पूर्वक एक दूत औरङ्गजेब के पास भेज दिया। उसने कहला भेजा कि नयनों की ज्योति, हृदय के आनन्द परम स्नेहास्पद प्यारे भाई औरङ्गजेब ने राजसिंहासन की प्राप्ति में सफलता पा ली है इस कारण शुजा के मृत-शरीर में मानो प्राण आ गये हैं। इस समय शुजा के वङ्ग प्रदेश के शासन के लिए नया सम्राट् मान लेने में ही मानो आनन्द का कोई अंश लेप न था।

औरङ्गजेब ने अत्यन्त आदर के साथ दूत को बुलवाया। उसने शुजा के शरीर और मन की स्वस्थता तथा उसके परिवार के शुभ समाचार को जानने के लिए विशेष रूप से उत्सुकता दिखलाई और कहा—'जब सम्राट् शाहजहाँ ने स्वयं ही शुजा को बङ्गाल का शासन-भार सौंपा था तब दूसरी स्वीकृति की तो कोई आवश्यकता नहीं थी।'

इसी समय रघुपति शुजा के दरबार में उपस्थित हुए।

शुजा ने कृतज्ञता और आदर के साथ अपने उद्धारक को बुला भेजा और पूछा—'क्या समाचार है?'

रघुपति ने कहा—'महाराज से कुछ निवेदन करना है।'

शुजा ने मन में सोचा कि फिर यह निवेदन किस लिए। कुछ रुपया

न माँगें तभी गनीमत है।

रघुपति ने कहा—'मेरी प्रार्थना यह है कि · · · ।'

शुजा ने बीच ही में कहा—'ब्राह्मण ! तुम्हारी प्रार्थना मैं अवश्य ही पूरी करूँगा किन्तु कुछ दिनों तक सन्तोष करो। इस समय राज-कोष में विशेष धन नहीं है।'

तब रघुपति ने कहा—'शाहनशाह ! मुझे चाँदी सोना या अन्य कोई धातु न चाहिए। इस समय मुझे तो चाहिए केवल शान रखा हुआ इस्पात। आप हमारी फरियाद सुन लीजिए, मैं न्याय की प्रार्थना करता हूँ।'

शुजा—'बड़ी कठिनाई है। इस समय मुझे विचार करने का मौका नहीं। ब्राह्मण, तुम बड़े असमय में आये।'

रघुपति—'शाहजादा ! समय और असमय सबके लिए है। आप बादशाह हैं, आपके लिए भी है। मैं दरिद्र ब्राह्मण हूँ, मेरे लिए भी है। यदि आप अपने मौके से विचार करने बैठेंगे तब तो मेरा मौका कहाँ रह जायगा ?'

शुजा ने निराश होकर कहा—'बड़ी मुश्किल है। इन बातों को सुनने की अपेक्षा फरियाद ही सुनना ठीक है। अच्छा, कहते हो तो चलो।

रघुपति ने कहा—'त्रिपुरा के राजा गोविन्द माणिक्य ने अपने भाई नक्षत्र राय को बिना किसी अपराध के राज्य से निकाल दिया है।'

शुजा ने नाक-भौंह सिकोड़ कर कहा—'ब्राह्मण ! तुम दूसरे की फरियाद लेकर क्यों मेरा समय नष्ट कर रहे हो ? अभी इन सारी बातों पर विचार करने का समय नहीं है।'

रघुपति—'फरियादी राजधानी में उपस्थित है।'

शुजा—'वह स्वयं उपस्थित होकर अपने मुख से जब फरियाद करेगा तभी विचार किया जायगा।'

रघुपति—'उनको यहाँ कब हाजिर करूँ ?'

शुजा ने मन में कहा कि ब्राह्मण किसी भी प्रकार पिण्ड नहीं छोड़ता।

फिर उससे बोला—'एक सप्ताह बाद ले आना।'

रघुपति—'बादशाह, यदि आज्ञा दूँ तो मैं उनको कल ही ले आऊँ।'

शुजा ने विरक्त होकर कहा—'अच्छा कल ही लाना।'

आज किसी प्रकार छुटकारा मिला और रघुपति चले गये।

नक्षत्र राय ने कहा—'नवाब के पास जाऊँगा तो सही, पर नजराना क्या ले जाऊँगा?'

रघुपति ने उत्तर दिया—'इसके लिए तुम्हें परेशान होने की आवश्यकता नहीं।'

उन्होंने नजराने के लिए डेढ़ लाख रुपया ला दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल डरते हुए नक्षत्र राय को साथ लेकर रघुपति शुजा के दरबार में उपस्थित हुए। जिस समय डेढ़ लाख रुपया नवाब के चरणों पर समर्पित हुआ उस समय उनकी मुखाकृति पहले के समान अप्रसन्न दिखलाई नहीं पड़ रही थी। नक्षत्र राय की फरियाद आसानी से सुन ली गई।

शुजा ने कहा—'अब तुम्हारा क्या अभिप्राय है? कहो!'

रघुपति ने कहा—'गोविन्द माणिक्य को निर्वासित करके उनके स्थान पर नक्षत्र राय को राजा बनाने की आज्ञा दी जाय।'

यद्यपि शुजा को अपने भाई औरङ्गजेब के राजा होने में हस्तक्षेप करने पर कोई संकोच न होता था तथापि इस अवसर पर उसके मन में न जाने क्यों हिचकिचाहट पैदा होने लगी। किन्तु रघुपति की प्रार्थना पूरी करना अन्य बातों की अपेक्षा उसे अधिक सहज जान पड़ा नहीं तो रघुपति विशेष बकवाद करेंगे यही उनको भय था। विशेषतः डेढ़ लाख रुपये के नजराने पर आपत्ति करना ठीक नहीं यही विचार उनके मन में उठा।

शुजा बोला—'गोविन्द माणिक्य के निर्वासन एवं नक्षत्र राय के राजा होने का फरमान तुम्हारे साथ ही देता हूँ। तुम उसे ले जाओ।'

रघुपति—'कुछ शाही सेना भी साथ में देना होगा।'

शुजा ने दृढ़ स्वर में कहा—'न, यह नहीं होगा। मैं युद्ध नहीं कर

सकता।'

रघुपति ने फिर कहा—'युद्ध के व्यय के लिए छत्तीस हजार रुपया अलग से मैं दिये देता हूँ तथा नक्षत्र राय के त्रिपुरा के राजा हो जाने के बाद ही मैं एक साल का कोष सेनापति द्वारा भिजवा दूँगा।'

यह प्रस्ताव शुजा को बहुत ही युक्ति-संगत मालूम हुआ तथा मन्त्रिमण्डल भी उससे सहमत हो गया। मुगल-सेना का एक दल साथ लेकर रघुपति और नक्षत्र राय त्रिपुरा की ओर चल पड़े।

उनतीसवाँ परिच्छेद

इस उपन्यास के आरम्भकाल से आज दो साल बीत चुके हैं। उस समय ध्रुव दो साल का था और आज वह चार साल का हो चुका है। अब उसने काफी बोलना सीख लिया है। वह अब अपने को काफी बड़ा समझने लगा है। यद्यपि वह सारी बातें स्पष्ट नहीं कह सकता किन्तु काफी जोर से बोल लेता है। वह राजा को प्रायः 'खिलौना दूँगा' कहकर अत्यन्त आकर्षण और सान्त्वना देता है एवं राजा यदि कभी शरारत भरा भाव प्रकट करते हैं तो ध्रुव उनको 'कोठरी में बन्द कर दूँगा'—कहकर बहुत डरा देता है। इस प्रकार राजा अब विशेष शासन में रहते हैं। ध्रुव की अनुमति के बिना कोई काम करने में वे अधिक विश्वास नहीं रखते।

इसी बीच ध्रुव को एक साथी मिल गया। यह थी एक पड़ोसी की लड़की जो ध्रुव से छः महीने ही छोटी थी। दस मिनट के भीतर दोनों में चिरस्थायी मित्रता हुई थी। बीच में एक बार बिगाड़ होने की भी सम्भावना हुई। ध्रुव के हाथ में एक बड़ा सा बताशा था। प्रथम प्रेम के उमङ्ग में ध्रुव ने अपनी छोटी-छोटी अँगुलियों द्वारा अत्यन्त सावधानी से एक छोटा-सा टुकड़ा तोड़कर एक बार में ही अपनी संगिनी के मुख में डाल दिया और अत्यन्त कृपा-पूर्वक सर हिलाकर कहा—'तुम खाओ।' संगिनी मीठा पाकर सन्तुष्ट होकर बोली—'और खाऊँगी।'

उस समय ध्रुव कुछ कातर हो गया। बन्धुत्व के ऊपर इतना अधिक दबाव उसे उचित न जान पड़ा। ध्रुव ने अपनी स्वाभाविक गम्भीरता और बड़प्पन के साथ सिर हिलाकर तथा आँखें फैलाकर कहा—'छिः औल नईं। बिमाल पल जायगी, बाबा माॅलेंगे।' इतना कहकर उसने शीघ्रता-पूर्वक पूरा बताशा एक ही बार में अपने मुँह में डालकर समाप्त कर दिया। सहसा बालिका की मुखाकृति में परिवर्तन होने लगा। दोनों ओठ फूलने लगे, भौंहें ऊपर की ओर उठने लगीं और रोने के सारे लक्षण दिखाई पड़ने लगे।

ध्रुव किसी का रोना न देख सकता था। उसने झटपट बड़ी गम्भीर एवं सान्त्वना युक्त वाणी में कहा—'कल औल दूँगा।'

राजा के आते ही ध्रुव अपने को बड़ा समझदार बनकर अपने नये साथी का परिचय देते हुए बोला—'इसको कुछ न कहो। इसे मालना नईं यह लोयेगी, बली लोनी है छिः!'

राजा के मन में किसी भी प्रकार के बुरे विचार न थे यह सत्य था फिर भी जबरदस्ती राजा को सावधान कर देना ध्रुव ने बहुत ही आवश्यक समझा। राजा ने बालिका को मारा नहीं। ध्रुव ने भली-भाँति देख लिया कि उसका उपदेश निष्फल न रहा।

इसके बाद ध्रुव शान एवं बड़प्पन का भाव धारण करके तथा किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका नहीं है इसे जानकर बालिका को बड़ी गम्भीरता के साथ आश्वासन देने की चेष्टा करने लगा।

इसकी कुछ भी आवश्यकता न थी क्योंकि बालिका स्वयं निर्भयता-पूर्वक राजा के पास जाकर बड़े कौतूहल और चाव के साथ अपने हाथों के कङ्कन को घुमा-घुमाकर देखने लगी।

इस प्रकार ध्रुव ने एक मात्र अपने यत्न एवं परिश्रम से पृथ्वी पर शान्ति और प्रेम स्थापित करके प्रसन्नता-पूर्वक राजा के मुख के समीप अपने बेले के फूल के समान पुष्ट, गोल एवं कोमल पवित्र मुख को बढ़ा दिया—राजा के सद्व्यवहार के पुरस्कार के लिए। राजा ने चुम्बन

ले लिया।

तब ध्रुव ने अपनी संगिनी के मुख को ऊपर उठाकर अनुमति और अनुरोध भरे स्वर में राजा से कहा—'इसका भी चुम्मा लो।'

राजा ध्रुव की आज्ञा का उल्लङ्घन करने का साहस न कर सके। बालिका ने बुलाने की कुछ भी प्रतीक्षा न कर बड़ी निपुणता और बिना भेद-भाव के राजा की गोद में चढ़कर बैठ गई।

इस समय तक उस संसार में किसी भी प्रकार की अशान्ति अथवा अव्यवस्था के लक्षण न थे किन्तु इस बार ध्रुव के सिंहासन पर खिंचाव पड़ते ही उसका सार्वभौमिक प्रेम डगमगा गया। राजा की गोद में अपने एक मात्र अधिकार को स्थापित करने की चेष्टा उसके हृदय में बलवती हो उठी। उसका मुँह बहुत भारी हो गया। उसने बालिका को एक दो बार खींचा। यहाँ तक कि उसे अपने लिए एक विशेष परिस्थिति में उस छोटी बालिका को मारना भी उतना अनुचित न जान पड़ा।

तब राजा ने झगड़ा मिटाने के लिए ध्रुव को भी अपनी आधी गोद में उठा लिया किन्तु उतने पर भी ध्रुव का एतराज़ दूर न हुआ। दूसरी ओर भी अधिकार जमाने के लिए वह नये आक्रमण का उद्योग करने लगा। इसी समय नये राज-पुरोहित बिल्वन कमरे में आये।

राजा ने दोनों को गोद से नीचे उतार कर उनको प्रणाम किया और ध्रुव से बोले—'पुजारीजी को प्रणाम करो।' ध्रुव ने उसे आवश्यक न समझा। वह मुँह में अँगुली डालकर विद्रोही-भाव धारण किये खड़ा रहा। बालिका ने अपनी ओर से राजा की देखा-देखी पुजारी जी को प्रणाम किया।

पुजारी बिल्वन ने ध्रुव को गोद में उठाकर पूछा—'तुम्हें यह संगिनी कहाँ से मिल गई?'

ध्रुव ने कुछ क्षण सोचकर कहा—'मैं टिक्‌टिक् चढ़ूँगा।' टिक्‌टिक् माने होता है घोड़ा।'

पुजारी ने कहा—'वाह! वाह! प्रश्न और उत्तर में कितना मेल है?'

सहसा बालिका की ओर ध्रुव की दृष्टि पड़ी। उसके बारे में बहुत ही संक्षेप में अपना मत और अभिप्राय बताते हुए उसने कहा—'वह पाजी। उसको मारूँगा।' इतना कहकर उसने अपनी छोटी मुट्ठी ऊपर की ओर तानी।

राजा गम्भीरता-पूर्वक बोले—'न ध्रुव।'

एक फूँक से जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार तत्क्षण ध्रुव का मुख मलिन हो गया। पहले वह आँसू रोकने के लिए दोनों मुट्ठियों से अपनी दोनों आँखें रगड़ने लगा। आखिरकार देखते-देखते उसका छोटा स्वच्छ हृदय उसे न रोक सका—वह रो पड़ा।

पुजारी बिल्वन ने उसे हिला-डुलाकर, गोद में लेकर, ऊपर उठाकर तथा नीचे झुकाकर उसे अस्थिर कर दिया तथा जोर-जोर से और जल्दी-जल्दी कहने लगे—'सुनो, सुनो ध्रुव सुनो। तुम्हारे लिए श्लोक कहता हूँ सुनो।

'कलह कटकटां काठ काठिन्यं काठ्यं।
कटन किटन कीटं कुटाप्लं खट्टपट्टं॥'

अर्थात् यह कि जो लड़का रोता है उसको कलह कटकटां के बीच रखकर भली-भाँति काट काठिन्यं काठ्यं दिया जाता है, उसके बाद इतना-सा कटन किटन कीटं लेकर एक साथ ही तीन तक कुटाप्लं खट्टपट्टं।'

इस प्रकार पुजारी जी बेमतलब की बात बक गये। ध्रुव की रुलाई बीच में ही एकबारगी समाप्त हो गई। वह पहले के गोल-माल में परेशान हो अवाक् रहकर पुजारी बिल्वन के मुख की ओर आँसू भरी अपनी आँख उठाकर देखता रहा। उसके बाद हाथ-मुँह हिलाते हुए पुजारी को देखकर उसे बड़ा कुतूहल-सा जान पड़ने लगा।

वह बहुत प्रसन्न होकर बोला—'फिर कहो।'

पुजारी जी फिर बकबका गये।

ध्रुव खूब हँसता हुआ बोला—'फिर कहो।'

राजा ने ध्रुव के आँसुओं से भीगे हुए गालों एवं हास्ययुक्त ओठों का बार-बार चुम्बन किया। तब राजा, राजपुरोहित व दोनों बालक बालिका सभी मिलकर खेलने लगे।

पुजारी बिल्वन ने राजा से कहा—'महाराज इनको लेकर बड़े आनन्द से हैं। दिन-रात बड़े बुद्धिमानों के साथ रहने से बुद्धि समाप्त-सी हो जाती है। छुरी पर लगातार शान रखने से वह धीरे-धीरे सूक्ष्म होकर समाप्त हो जाती है, केवल एक मोटा बेंट बच जाता है।'

राजा हँसकर बोले—'तो अब मैं समझता हूँ कि मेरी सूक्ष्म बुद्धि का लक्षण अभी दिखाई नहीं पड़ रहा है?'

बिल्वन—'नहीं, सूक्ष्म बुद्धि का तो एक यही लक्षण है कि वह छोटी-सी बात को कठिन बना देती है। यदि पृथ्वी पर बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमान न होते तो इसका काम बहुत कुछ आसान हो जाता। अनेक प्रकार की सुविधा करने से ही बहुत-सी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अधिक बुद्धि लेकर मनुष्य क्या करेगा, समझ में नहीं आता।'

राजा—'पाँच अँगुलियों से तो काफी काम चल जाता है पर दुर्भाग्यवश सात अँगुलियाँ पा जाने पर जान-बूझकर काम बढ़ाना ही पड़ता है।'

फिर राजा ने ध्रुव को बुलाया। ध्रुव अपनी संगिनी के साथ मेल करके खेल रहा था। वह राजा की पुकार को सुनकर उसी क्षण खेलना छोड़ राजा के पास आ गया।

राज ने उसको सामने बैठाकर कहा—'वह नया गीत पुजारीजी को सुनाओ तो।' किन्तु ध्रुव ने बहुत आपत्तिपूर्ण भाव से पुजारी जी को ओर देखा।

राजा ने लालच दिखाकर कहा—'तुमको टिक्‌टिक् पर चढ़ाऊँगा।'

ध्रुव ने आधा-आधा उच्चारण करते हुए उस गीत को गाया।

ध्रुव के मुख से अस्पष्ट स्वर में उस गीत को सुनकर पुजारी बिल्वन अत्यन्त द्रवित हो गये। वे बोले—'आशीर्वाद देता हूँ वत्स, तुम चिरजीवि

होओ।' इसके बाद ध्रुव को गोद में उठा कर बड़े अनुनय-विनय के साथ पुजारी जी बोले—'एक बार फिर सुनाओ।'

ध्रुव ने अत्यन्त मूक अनिच्छा प्रकट की। पुजारीजी ने अपनी आँखें बन्द करते हुए कहा—'तो मैं रोता हूँ।'

ध्रुव कुछ अस्थिर होकर बोला—'कल छुनाऊँगा। नईं लोना नईं। तुम इछ छमय चल जाव। बाबा मालेंगे।'

बिल्वन ने हँसकर कहा—'कितनी मधुर गरदनिया हैं।' वे राजा से बिदा लेकर बाहर राजमार्ग पर आये।

रास्ते पर दो पथिक जा रहे थे। एक ने दूसरे से कहा—'तीन दिन से उसके दरवाजे पर सर पटकता रहा पर एक पैसा भी न वसूल कर सका। इस बार बाहर निकलने पर मैं उसका सर तोड़ दूँगा। देख लूँगा जो होगा।'

बिल्वन ने पीछे से ही कहा—'उससे भी कोई नतीजा न मिलेगा। भाई देखते ही तो हो माथे में कुछ रहता ही नहीं केवल दुर्बुद्धि है।'

दोनों पथिकों ने चौंककर और लज्जित होकर पुजारीजी को प्रणाम किया।

बिल्वन बोले—'भाई तुम लोगों ने जो बातें कहीं वे ठीक नहीं हैं।'

दोनों पथिकों ने कहा—'जो आज्ञा पुजारीजी, ऐसी बातें हम फिर न कहेंगे।'

पुजारीजी को रास्ते में लड़कों ने घेर लिया। वे बोले—'आज सायंकाल हमारे उस स्थान पर आना तो मैं कहानियाँ सुनाऊँगा।' प्रसन्नता के कारण लड़कों ने खूब उछल-कूद और शोर-गुल मचा दिया।

पुजारी बिल्वन कभी-कभी दोपहर के बाद राज्य के बालकों को इकट्ठा करके उनको सरल भाषा में रामायण, महाभारत और पुराण की कथायें सुनाते। बीच-बीच में एक-दो नीरस कथा भी जहाँ तक हो सकता सरस बनाकर कहने की चेष्टा करते। किन्तु जब वे देखते कि बालकों में जम्हाई संक्रामक हो उठी है तो उन्हें मन्दिर के बगीचे में छोड़ देते। वहाँ पर

फल के बहुत-से पेड़ थे। बालक आकाश-वेशी चिल्लाहट के साथ बन्दरों की तरह डाल-डाल पर लूट मचा देते। बिल्वन प्रसनता-पूर्वक यह सब देखते रहते।

बिल्वन कहाँ के रहने वाले थे—यह कोई न जानता था। वे थे तो ब्राह्मण पर उन्होंने जनेऊ का परित्याग कर दिया था। बलिदान आदि को बन्द करके एक प्रकार के नये अनुष्ठान द्वारा वे देवी की पूजा करते रहे। पहले पहल लोगों ने उस कारण पर सन्देह और आपत्ति प्रकट की किन्तु जब सब कुछ पुजारी ने सह लिया तभी से लोग बिल्वन की बातों के वश में हो गये। बिल्वन सभी के घर-घर जाकर सभी से बात-चीत करते, सबका हाल-चाल पूछते एवं रोगी को जो दवा देते वह आश्चर्यजनक लाभ पहुँचाती। विपत्ति आपत्ति सभी में वे उनकी राय से काम करते। वे जब मध्यस्थ होकर किसी का झगड़ा तय कर देते अथवा किसी बात की मीमांसा करते तो उनकी बातों के ऊपर कोई कुछ भी न कह सकता था।

तीसवाँ परिच्छेद

इसी साल त्रिपुरा में एक अभूतपूर्व घटना हो गई। उत्तर दिशा से सहसा झुण्ड के झुण्ड चूहे त्रिपुरा के खेतों में आ पहुँचे थे। उन्होंने सारी खेती नष्ट कर डाली, यहाँ तक कि कृषकों के घरों में जो कुछ अन्न संचित था उसको भी अधिकांश रूप में खा डाला। राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। देखते ही देखते अकाल आ पड़ा। लोग वन के कन्द-मूल को खाकर जीवन बीताने लगे। जंगलों की कमी न थी तथा वहाँ अनेक प्रकार की खाने योग्य वनस्पतियाँ थीं। जानवरों का मांस भी बाजार में मँहगा हो गया। लोग जंगली भैंसे, हिरन, खरगोश, साही, गिलहरी, जंगली सूअर और बड़े-बड़े कछुओं का शिकार करके खाने लगे। वे हाथी पाने पर उसे

भी खा जाते, यहाँ तक कि अजगर आदि साँपों को भी खाने लगे। वन में खाने योग्य पत्तियों का अभाव न था। पेड़ के कोटरों में मधुमक्खी और उनके छत्ते पाये जाते थे। जगह-जगह पर नदी का पानी रोककर उसमें नशीली लता छोड़ देने से मछलियाँ मरकर ऊपर आ जातीं। उन्हीं को पकड़कर सभी लोग खाने और सुखाकर इकट्ठा करने लगे। इस प्रकार भोजन तो किसी न किसी तरह चल ही जाता किन्तु बहुत बड़ी अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो गई थी। जगह-जगह चोरी-डकैती शुरू हो गई और प्रजा ने विद्रोह का लक्षण प्रकट किया।

प्रजा कहने लगी—माँ की बलि बन्द करने के कारण ही उनके शाप से यह सब दुर्घटनायें प्रारम्भ हुई हैं। पुजारी बिल्वन इन सारी बातों को हँसी में उड़ा देते। वे हँसी के बहाने कहते कि कैलाश पर कार्त्तिकेय और गणेश दोनों भाइयों में बटवारा हो गया है। कार्त्तिकेय मयूर के विरुद्ध गणेश के चूहे त्रिपुरा के त्रिपुरेश्वर के समक्ष नालिश करने आये हैं। प्रजा इस बात को हँसी के रूप में ग्रहण न करती। उसने देखा कि बिल्वन की बात के अनुरूप ही चूहों का स्रोत जितनी ही तेजी के साथ आया था उतनी ही शीघ्रता-पूर्वक सारी खेती को नष्ट-भ्रष्ट करके न जाने कहाँ लुप्त हो गया। तीन दिन के भीतर ही उनका चिह्न तक शेष न रहा। अब पुजारी बिल्वन के अगाध ज्ञान के प्रति किसी को कुछ भी सन्देह न रहा। कैलाश पर भ्रातृ-विच्छेद के सम्बन्ध में अनेक गीत बनने लगे। बालक-बालिकायें एवं भिगमंगे वही गीत गाने लगे। रास्तों पर, नदी के किनारे, सभी स्थानों पर वही गीत प्रचलित हो गया।

किन्तु अब भी राजा के प्रति प्रजा के विद्वेष के भाव पूर्णरूप से मिटे न थे। पुजारी बिल्वन की राय के अनुसार गोविन्द माणिक्य ने अकाल पीड़ित प्रजा की एक साल की लगान माफ कर दी। उसका कुछ फल हुआ अवश्य, किन्तु फिर भी बहुत से लोग माँ के शाप से बचने के लिए दूसरे चट्टग्राम—पर्वतीय प्रदेश में भाग गये। यहाँ तक कि राजा के मन में भी सन्देह पैदा होने लगा।

उन्होंने बिल्वन को बुलाकर कहा—'पुजारीजी! राजा के पाप के कारण ही प्रजा कष्ट पाती है। क्या मैंने माँ की बलि बन्द करके पाप किया है? उसी का यह दण्ड है?'

बिल्वन ने सारी बातें एक बारगी उड़ा दीं—वे बोले—'माँ के सामने जब हज़ारों नर-बलि होती थी तो उस समय आपकी अधिक प्रजा-हानि होती थी अथवा इस अकाल में हुई है?'

राजा निरुत्तर हो गये किन्तु उनके मन से संशय पूरी तरह न दूर हुआ 'प्रजा उनसे असन्तुष्ट हो गई है, उनके प्रति सन्देह प्रकट करती है'—इस कारण उनके हृदय पर बड़ी चोट लगी और उनके स्वयं अपने प्रति सन्देह होने लगा। वे विश्वास छोड़कर बोले—'मैं कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।'

बिल्वन—'अधिक जानने की आवश्यकता ही क्या?—क्यों इतने चूहे आकर खेती खा गये—इसे न समझा तो कोई हर्ज नहीं। मैं अन्याय न करूँगा, मैं सभी की भलाई करूँगा'—इतना ही स्पष्ट रीति से समझ लेना योग्य है। इसके बाद ईश्वर अपना कार्य करेंगे, वे हमें हिसाब देने तो आवेंगे नहीं।'

राजा—'पुजारीजी! आप घर-घर घूमकर लगातार काम करते हैं। लोगों की जितनी भलाई करते हैं उतना ही आपको फल मिलता है—इसी आनन्द में आपका सारा संशय मिट जाता है। मैं केवल दिन-रात एक मुकुट सिर पर रक्खे सिंहासन पर बैठा रहता हूँ। बहुत-सी चिन्ताओं को सर पर लादे हुए हूँ। आपके काम को देखकर मुझे लालच लगती है।'

बिल्वन—'महाराज! मैं आपका ही तो एक अंश हूँ। यदि आप उस सिंहासन पर न रहते तो क्या मैं यह सब करने में समर्थ होता? आप और हम मिलकर ही तो पूर्ण हुए हैं।'

इतना कहकर बिल्वन ने बिदा ली। राजा मुकुट सिर पर रक्खे हुए सोचने लगे। वे मन-ही-मन बोले—'मेरा काम तो बहुत अधिक पड़ा है पर मैं उनको तनिक भी नहीं करता। मैं केवल अपनी ही परवाह करके

निश्चिन्त रहता हूँ। इसी कारण मैं प्रजा का विश्वास प्राप्त नहीं कर पाता। मैं राज्य करने योग्य राजा नहीं।

इकतीसवाँ परिच्छेद

मुगल सेना के सञ्चालक होकर नक्षत्र राय रास्ते में तेंतुल नामक एक छोटे-से गाँव में विश्राम कर रहे थे। प्रातःकाल रघुपति ने आकर कहा—'यात्रा करना होगा महाराज। तैयार हो जायँ।'

सहसा रघुपति के मुख से महाराज शब्द बहुत ही मधुर जान पड़ा। नक्षत्र राय प्रसन्न होकर उठ बैठे। वे कल्पना में मस्त होकर पृथ्वी के सभी लोगों के मुख से 'महाराज' शब्द सुनने लगे। वे मन ही मन त्रिपुरा के उच्च सिंहासन पर चढ़कर सभा को सुशोभित करके बैठ गये। अपने आप आनन्दित होकर बोले—'ठाकुर, मैं आपको किसी भी प्रकार नहीं छोड़ सकता। आपको सभा में रहना ही होगा। आप जो चाहते हों वही मुझसे कहिए।'

नक्षत्र राय ने मन ही मन रघुपति को उसी समय देखते-ही-देखते एक बहुत बड़ी जागीर दान कर दी।

रघुपति ने कहा—'मैं कुछ नहीं चाहता।'

नक्षत्र राय—'यह कैसी बात? यह नहीं हो सकता ठाकुर, कुछ तो लेना ही होगा। 'कैलासर' परगना मैंने आपको दिया। आप लिखा-पढ़ी करा लें।'

रघुपति—'यह सब बाद में देखा जायगा।'

नक्षत्र राय—'बाद में क्यों? मैं अभी दूँगा। सारा 'कैलासर' परगना आपका ही हो गया। मैं एक पैसा भी मालगुजारी न लूँगा।' इतना कहकर नक्षत्र राय सिर ऊँचा करके खूब तनकर बैठ गये।

रघुपति ने कहा—'मरने के लिए तीन हाथ जमीन पा जाने से ही सुखी हो जाऊँगा। मैं और कुछ नहीं चाहता।'

इतना कहकर रघुपति चले गये। उनको जयसिंह का ध्यान आया। यदि जयसिंह होते तो पुरस्कार स्वरूप कुछ लेते भी। जब जयसिंह ही नहीं

तब सारा राज्य 'मिट्टी के सिवा और कुछ है' यह मन में नहीं जँचता था।

इस समय रघुपति नक्षत्र राय को राज्याभिमान में मत्त करने की चेष्टा कर रहे थे। उनके मन में भय था कि कहीं बाद में चलकर यह सारा आयोजन व्यर्थ न हो जाय और दुर्बल-हृदय नक्षत्र राय त्रिपुरा में जाकर बिना युद्ध किये ही राजा के समीप अपने को समर्पित कर दें। किन्तु एक बार दुर्बल-हृदय में भी राज-मद उत्पन्न हो जाने के पश्चात् किसी प्रकार की चिन्ता न रही।

रघुपति अब नक्षत्र राय की अवज्ञा नहीं करते बल्कि बात-बात में उनका सम्मान किया करते थे। वे हर एक बात में उनकी मौखिक आज्ञा ले लिया करते थे। मुगल सेना नक्षत्र राय को महाराज साहब कहती थी और उनको देखते ही व्यग्र हो जाती थी। वायु के चलने से जिस प्रकार सारा शस्य नत मस्तक हो जाता है उसी प्रकार नक्षत्र राय के आकर खड़े हो जाने पर पंक्ति की पंक्ति मुगल सेना सिर झुकाकर सलाम करती। सेनापति भी सम्मान के साथ उनको प्रणाम करते। सैकड़ों नङ्गी तलवारों की चमचमाहट के बीच, बहुत बड़े हाथी की पीठ पर राजचिह्न से युक्त सोने से मढ़े हुए हौदे पर चढ़कर वे यात्रा करते। साथ-साथ उल्लास बढ़ाने वाले बाजे रहते तथा सैनिक राजध्वजा लेकर चलते। नक्षत्रराय जिस स्थान से होकर जाते वहाँ के ग्राम निवासी सेना के भय के कारण घर-द्वार छोड़कर भाग जाते। उनके भय को देखकर नक्षत्र राय के मन में गर्व उत्पन्न होता। उनके मन में विचार आता 'मैं दिग्विजय करता हुआ चल रहा हूँ।' छोटे-छोटे जमींदार लोग अनेक प्रकार की भेंट लेकर आते और उनको सलाम करते चले जाते। वे लोग पराजित राजाओं की तरह जान पड़ते। उस समय महाभारत के दिग्विजयी पाण्डवों की कथा उनके मन में याद आती।

एक दिन सैनिकों ने आकर प्रणाम करके कहा—'महाराज साहब!' नक्षत्र राय तन कर बैठ गये—'हम लोग महाराज के लिए जान देने आये हैं। हम लोग जान की परवाह नहीं करते। यह सदैव से हमारा दस्तूर रहा है कि हम लोग लड़ाई पर जाते समय रास्ते में गाँवों को लूटते जाते

हैं। किसी भी शास्त्र में इसको दोष नहीं कहा गया है।'

नक्षत्र राय ने सिर हिलाकर कहा—'ठीक बात है, ठीक बात है।'

सैनिक—'ब्राह्मण देवता ने हम लोगों को लूट-पाट करने से मना कर दिया है। हम लोग जान देने के लिए जा रहे हैं। तिस पर एक भी लूट-पाट न कर पायें यह तो बड़ा अन्याय है।'

नक्षत्र राय ने फिर सिर हिलाकर कहा—'ठीक बात है, ठीक बात है।'

'महाराज यदि हुक्म दें तो हम ब्राह्मण देवता की बात न मानकर लूट-पाट करते जायें।'

नक्षत्र राय ने बड़ी स्पर्धा के साथ कहा—'ब्राह्मण कौन होता है? ब्राह्मण क्या राजनीति जाने! मैं तुम लोगों को हुक्म देता हूँ कि तुम लोग लूट-पाट कर सकते हो।'

इतना कहकर नक्षत्र राय ने अपने चारों ओर सावधानी से देखा, रघुपति को कहीं भी न देखकर निश्चिन्त हो गये।

किन्तु रघुपति की इस प्रकार दृढ़ता-पूर्वक उपेक्षा करके वे मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए। क्षमता का मद मदिरा की तरह उनकी नस-नस में बहने लगा। वे इस पृथ्वी को नई दृष्टि से देखने लगे। कल्पना के गुब्बारे पर चढ़कर उन्हें ऐसा लगा कि पृथ्वी मानो बहुत छोटे मेघ-खण्ड के सदृश्य विलीन हो गई हो। यहाँ तक कि बीच-बीच में कदाचित् रघुपति भी नगण्य से जान पड़ने लगे। सहसा वे गोविन्द माणिक्य पर एकदम क्रोधित हो गये। वे बार-बार मन-ही-मन कहने लगे—'मुझे निर्वासन! एक साधारण प्रजा की तरह मुझे न्यायालय में बुलाना! इस बार देखूँगा कि कौन किसको निर्वासित करता है! इस बार त्रिपुरा के सभी लोग नक्षत्र राय के प्रभाव से परिचित हो जायँगे।' इस प्रकार नक्षत्र राय मन-ही-मन फूलकर कुप्पा हो रहे थे।

बेचारे ग्रामीणों पर बिना प्रयोजन उत्पीड़न और लूट-पाट के प्रति रघुपति विशेष रूप से विरुद्ध थे। इसे रोकने के लिए उन्होंने अनेक प्रकार

की चेष्टायें भी की थीं किन्तु सैनिकों ने नक्षत्र राय की आज्ञा पा जाने के कारण उनकी अवहेलना की। वे नक्षत्र राय के पास जाकर बोले—'असहाय ग्रामवासियों के ऊपर यह अत्याचार क्यों?'

नक्षत्र राय ने कहा—'ठाकुर, इस बारे में तुम भली-भाँति नहीं जानते। युद्ध के समय सेनाओं की लूट-पाट में रोक-टोक लगाकर उनको निरुत्साहित करना ठीक नहीं।'

नक्षत्र राय की बात को सुनकर रघुपति कुछ विस्मित-से हुए। एकाएक नक्षत्र राय की श्रेष्ठता के अभिमान को देखकर वे मन ही मन हँसे।

वे फिर बोले—'इस समय लूट-पाट की छूट देने से बाद में फिर इनको सँभालना कठिन हो जायगा, ये त्रिपुरा को भी लूट लेंगे।'

नक्षत्र राय ने उत्तर दिया—'उससे हानि ही क्या? हम तो वही चाहते हैं। त्रिपुरा भी एक बार समझ ले कि नक्षत्र राय को निर्वासित करने का फल क्या है? ठाकुर, इन सब विषयों में तुम कुछ नहीं जानते। तुमने तो कभी युद्ध किया ही नहीं।'

रघुपति ने मन-ही-मन अत्यन्त आमोद का अनुभव किया। वे बिना उत्तर दिये चले गये। नक्षत्र राय एकदम कठपुतली न होकर एक शक्तिशाली मनुष्य बने यही उनकी अभिलाषा थी।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

जब त्रिपुरा में चूहों का उत्पात प्रारम्भ हुआ था उस समय सावन का महीना था। खेत में केवल भुट्टे फले थे तथा पहाड़ी जमीन पर और धान के खेतों में भी बालें लगनी शुरू हो गई थीं। तीन महीने किसी प्रकार कट गये। अगहन के महीने में जब तराई में धान काटने का समय आया उस समय देश में बड़ी प्रसन्नता फैल गई। कृषक, स्त्री, बालक, युवक एवं वृद्ध सभी मिलकर हाथों में हँसुआ लिये खेतों पर पहुँचे। वे

'हई हई' शब्दों द्वारा एक दूसरे को सम्बोधित करने लगे। जूमियों ※ (कृषकों) की स्त्रियों के गीत मैदानों और रास्तों में गूँज उठे। राजा के प्रति जो असंतोष था वह मिट गया और राज्य में शान्ति स्थापित हो गई। इसी समय समाचार मिला कि नक्षत्र राय राज्य पर आक्रमण करने के उद्देश्य से बहुत बड़ी सेना लेकर त्रिपुरा की सीमा पर आ पहुँचे हैं तथा जोरों से लूट- पाट और घोर अत्याचार आरम्भ कर दिये हैं। इस समाचार को सुनकर सारा राज्य सशंकित हो उठा।

यह संवाद राजा के हृदय में छुरी की तरह बिंध गया। सारे दिन वह उनको दुःख देता रहा। रह-रह कर उनके हृदय में केवल यह नवीन-सा मालूम होने लगा कि नक्षत्र राय उनपर आक्रमण करने आ रहे हैं? वे नक्षत्र राय के सरल एवं सुन्दर मुख को सैकड़ों बार अपनी प्रेम भरी आँखों के सामने देखने लगे तथा उसके साथ ही मन में विचार आया कि 'वही नक्षत्र राय कितनी ही सेना एकत्र करके, हाथ में तलवार लिये आक्रमण करने आ रहे हैं। कभी-कभी उनके मन में आता कि एक भी सैनिक न लेकर नक्षत्र राय के सम्मुख लड़ाई के मैदान में अकेले खड़े होकर सम्पूर्ण वक्षस्थल खोलकर उनके हजारों सैनिकों की तलवारों को एक साथ ही अपने हृदय में धारण कर लूँ।'

उन्होंने ध्रुव को गोद में उठाकर कहा—'क्या तू भी इस मुकुट के लिए मुझ से झगड़ा कर सकता है?' इतना कहकर उन्होंने मुकुट पृथ्वी पर फेंक दिया। एक बड़ा मोती टूटकर गिर पड़ा।

ध्रुव ने आग्रहपूर्वक हाथ बढ़ाकर कहा—'मैं लूँगा।'

राजा ने ध्रुव के सिर पर मुकुट पहनाकर उसको गोद में लेकर कहा—'यह लो, मैं किसी के साथ झगड़ा नहीं करना चाहता।' इतना कहकर उन्होंने ध्रुव को आवेग-सहित हृदय से चिपका लिया।

※ ये स्वाभाविक कृषक नहीं कहे जाते क्योंकि ये रीत्यानुसार खेती नहीं करते। जङ्गल को काटकर वर्षा के पहले केवल बीज बो देते हैं। ऐसी खेती को 'उदम' कहते हैं और कृषकों को 'जूमियाँ।'

उसके बाद सारे दिन—'यह केवल मेरे ही पाप का दण्ड है'—ऐसा समझकर राजा अपने मन में तर्क करने लगे। नहीं तो भाई कभी भी भाई पर आक्रमण नहीं कर सकता। मन में ऐसा विचार करके उन्हें।कुछ सान्त्वना मिली। उन्होंने सोचा कि यह ईश्वर का विधान है। ईश्वर के दरबार से आदेश आया है और क्षुद्र नक्षत्र राय केवल उसका मानव रूप में प्रतीक है जिसका वह उल्लंघन नहीं कर सकता। ऐसा विचार करके उनके आहत स्नेह को कुछ शान्ति मिली। वे पाप अपने कन्धों पर लेने को प्रस्तुत थे जिससे नक्षत्र राय के पाप का भार कुछ तो कम हो जाय।

बिल्वन ने आकर कहा—'महाराज! क्या यह समय आकाश की ओर आँखें उठाकर विचार करने का है?'

राजा बोले—'पुजारीजी! यह सब कुछ हमारे ही पाप का फल है।'

बिल्वन कुछ विरक्त होकर बोले—'इन सारी बातों से मेरा धैर्य्य टूटा जा रहा है।—'दुःख पाप का ही फल है'—यह कौन कहता है? यह पुण्य ,का भी फल हो सकता है। कितने ही धर्मात्मा लोग अपना पूरा जीवन दुःख में ही बिता डालते है।'

राजा निरुत्तर हो गये।

बिल्वन ने पूछा—'महाराज ने कौन-सा पाप किया था, जिसके फलस्वरूप यह घटना हुई है?'

राजा—'अपने भाई को निर्वासित किया था।'

बिल्वन—'अपने भाई को नहीं, दोषी को निर्वासित किया था।'

राजा—'दोषी होने पर भी भाई के निर्वासन का पाप तो है ही। उसके फल से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। कौरवों का अत्याचार होने पर भी पाण्डव उनको मारकर प्रसन्नता-पूर्वक राज-सुख का उपभोग न कर सके। उन्होंने यज्ञ करके उसका प्रायश्चित्त किया। पाण्डवों ने कौरवों से राज्य ले लिया तो सही, पर कौरवों ने मरकर भी पाण्डवों से राज्य छीन लिया। मैंने नक्षत्र को निर्वासित किया और अब नक्षत्र राय मुझे निर्वासित करने आया है।'

बिल्वन—'पाण्डवों ने पाप का दण्ड देने के लिए कौरवों से युद्ध नहीं किया था बल्कि राज्य के लोभ के कारण किया था। किन्तु महाराज ने पाप का दण्ड देने के लिए अपने सुख-दुख की उपेक्षा करके धर्म का पालन किया। इसमें तो मैं कोई पाप नहीं देखता। फिर भी प्रायश्चित्त करने का उपाय बताने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं ब्राह्मण तो उपस्थित हूँ ही। मुझे संतुष्ट कर लेने ही से प्रायश्चित्त हो जायगा।'

राजा मुस्कराकर चुप हो गये।

बिल्वन ने फिर कहा—'जो कुछ भी हो, पर इस समय तो युद्ध की तैयारी कीजिए। अब अधिक देर न करें।'

राजा—'मैं युद्ध न करूँगा।'

बिल्वन—यह तो हो ही नहीं सकता। आप बैठे-बैठे विचार करें, मैं तब तक सेना एकत्र करने की चेष्टा करता हूँ। इस समय सभी 'जूम' खेती पर गये हैं, पर्याप्त सैनिक पाना कठिन है।'

इतना कहकर बिल्वन बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किये चले गये।

सहसा न जाने ध्रुव के मन में क्या आया कि वह राजा के पास आकर और उनके मुख की ओर देखकर पूछ बैठा—'काका कहाँ?' ध्रुव नक्षत्र राय को काका कहता था।

राजा ने कहा—'काका आ गये हैं ध्रुव!' इतना कहते हुए उनकी आँखों की पलकें कुछ भीगने लगीं।

———

तेंतीसवाँ परिच्छेद

पुजारी बिल्वन के सिर बड़ा भार आ पड़ा। उन्होंने चट्टग्राम के पर्वतीय प्रदेशों को बहुत से उपहारों के साथ द्रुतगामी दूत भिजवाया। वहाँ पर कुकि-ग्राम के स्वामी के पास कुकि-सेना की सहायता की प्रार्थना की। युद्ध का नाम सुनकर वे आनन्द से नाच उठे। कुकि जाति का जो लाल अर्थात्

गाँव का स्वामी था उसने युद्ध सूचनार्थ लाल कपड़े के टुकड़े में बँधे हुए दाव (कटार) को दूत द्वारा गाँव-गाँव में भिजवा दिया। देखते ही देखते कुकि सैनिकों का स्रोत चट्टग्राम के पहाड़ की चोटी से होता हुआ त्रिपुरा के पहाड़की चोटियों पर आ पहुँचा। उनको किसी नियम में संयत करके रखना ही कठिन समस्या थी।

बिल्वन स्वयं त्रिपुरा के गाँव-गाँव में जाकर 'जूम' में से छाँट-छाँट कर युवकों को लड़ाई के लिए एकत्र कर लाये। अग्रसर होकर मुगल सेना पर आक्रमण करना' पुजारी बिल्वन को युक्ति-संगत न जान पड़ा। जब शत्रु समतल भूमि को पार करके अपेक्षाकृत दुर्गम पहाड़ों पर पहुँचे, उस समय जङ्गल, पर्वत और अनेक दुर्गम गुप्त स्थानों से उन पर सहसा आक्रमण करके चकित कर देना—बिल्वन ने स्थिर किया। बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़ों द्वारा गोमती का पानी रोक दिया गया था ताकि एकदम पराजय की आशङ्का उपस्थित होने पर उन बांधों को तोड़ देने से जल-प्लावन द्वारा मुगल सेना को डुबाया जा सके।

इधर नक्षत्र राय देश को लूटते हुए त्रिपुरा के पर्वतीय प्रदेश में आ पहुँचे। इस समय 'जूम' (खेती) काटने का काम समाप्त हो चुका था। 'जूमिया' (कृषक) लोग हाथों में दाव और तीर कमान लेकर युद्ध के लिए तैयार हो गये थे। कुकि दल को उबाल खाते हुए जल-प्रपात के समान अब अधिक देर तक बाँधकर न रखा जा सकता था।

गोविन्द माणिक्य ने कहा—'मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

बिल्वन—'यह निरर्थक बात है।'

राजा—'मैं राज्य करने के योग्य नहीं, इसके सभी लक्षण प्रकट हो रहे हैं। इसीलिए मेरे प्रति प्रजा को विश्वास नहीं, अकाल की यह सूचना और इसी कारण यह युद्ध भी। राज्य छोड़ने के लिए ये सब कुछ भगवान् के आदेश हैं!'

बिल्वन—'ये कभी भी भगवान् के आदेश नहीं। ईश्वर ने आपको राज्य का भार दिया था। जितने दिनों तक राज्य का कार्य विघ्न-रहित था

इतने दिनों तक तो आपने वह सहज कर्त्तव्य अनायास ही पालन किया और जब कि राज्य का भार कठिनतर हो गया है तभी उसे दूर फेर कर आप स्वाधीन होना चाहते हैं तथा 'ईश्वर का आदेश कहकर' अपने को धोखा देकर सुखी होना चाहते हैं।'

यह बात गोविन्द माणिक्य को चुभ गई। वे निरुत्तर होकर कुछ देर तक बैठे रहे। अन्त में अत्यन्त कातर होकर बोले—'समझ लो न पुजारी जी कि मेरी हार हो गई और नक्षत्र राय मुझे मारकर राजा हो गये।'

बिल्वन—'यदि सचमुच ऐसी बात हो जाय तो मैं महाराज के लिए शोक न करूँगा, किन्तु महाराज कर्त्तव्य से विमुख होकर भागते हैं तभी मेरे शोक का कारण उपस्थित होता है।'

राजा ने अधीर होकर कहा—'अपने ही भाई का रक्तपात करूँगा?'

बिल्वन—'कर्त्तव्य के सामने भाई-बन्धु कोई नहीं। कुरुक्षेत्र के युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो शिक्षा दी थी तनिक उसका स्मरण करके देखें तो।'

राजा—'पुजारी जी! आप क्या कह रहे हैं कि मैं अपने हाथ में इस तलवार को लेकर नक्षत्र राय पर वार करूँगा?'

बिल्वन—'हाँ।'

सहसा ध्रुव ने आकर अत्यन्त गम्भीर होकर कहा—'छिः! ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।'

ध्रुव खेल रहा था। दोनों ओर के वाद-विवाद को सुनकर सहसा उसके मन में आया कि दोनों अवश्य ही झगड़ा कर रहे हैं। 'अतएव समयानुसार दोनों को डाँट देना आवश्यक है'—इन्हीं बातों को सोचकर उसने हठात् आकर अपनी गरदन हिलाकर कहा—'छिः! ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।'

पुजारी जी को बड़ा आनन्द आया। वे हँस पड़े और ध्रुव को गोद

में लेकर चुम्बन करने लगे। किन्तु राजा न हँसे। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि बालक के मुख से उन्होंने देववाणी सुनी है।

वे दृढ़ स्वर में बोले—'पुजारी जी! मैंने निश्चय कर लिया है कि यह रक्तपात न होने दूँगा। मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

पुजारी बिल्वन कुछ देर तक चुप रहे। अन्त में बोले—'यदि महाराज को युद्ध करने में आपत्ति है तो एक दूसरा काम कीजिए। आप नक्षत्र राय से मिलकर उनको युद्ध करने से रोकिये।'

'इससे मैं सहमत हूँ।'

'तो इसी प्रकार का प्रस्ताव लिखकर नक्षत्रराय के पास भेजना होगा।'

अन्त में यही तय पाया।

———

चौबीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्र राय सेना लेकर आगे बढ़ने लगे। कहीं तिलमात्र भी बाधा न हुई। त्रिपुरा के जिस भी गाँव में वे पहुँचे वही गाँव उनको राजा मानने लगा। वे पग-पग पर राजत्व का स्वाद पाने लगे। उनकी यह भूख और भी बढ़ने लगी—चारों ओर की विस्तृत भूमि, गाँव, पर्वत-श्रेणी तथा नदी सभी को अपना कहना उनके मन में उठने लगा तथा अधिकार की प्राप्ति के साथ-साथ अहम् भी व्याप्त होकर अत्यन्त प्रशस्त होने लगा। मुगल सेना जो चाहती, उसी के लिए वे उसको शाही-फरमान दे देते। उनके मन में ऐसा होने लगा कि यह सब कुछ मेरा ही है तथा ये मेरे ही राज्य में आ पहुँचे हैं। इन लोगों को किसी भी सुख से वंचित न करना होगा। अपने स्थान पर जाकर मुगल लोग उनके आतिथ्य तथा राजशाही उदारता और दानशीलता की बड़ी प्रशंसा करेंगे, वे कहेंगे—त्रिपुरा का राजा कोई मामूली राजा नहीं है।' मुगल-सेनाओं से प्रशंसा की प्राप्ति

के लिए वे बराबर उत्सुक रहा करते। वे उनके प्रति यदि किसी भी प्रकार की कर्ण-प्रिय बात करते तो नक्षत्र राय अत्यन्त नम्र हो जाते, उनको सदा यह डर लगा रहता कि बाद में कहीं कोई बदनामी की बात न हो जाय।

रघुपति ने आकर कहा—'युद्ध की तो कोई तैयारी दिखाई नहीं पड़ती।'

नक्षत्र राय—'नहीं ठाकुर! वे डर गये हैं।' इतना कहकर वे जोर से हँसने लगे।

रघुपति ने हँसने का कोई विशेष कारण न समझा, फिर भी हँस पड़े।

नक्षत्रराय—'नक्षत्रराय नवाब की सेना लेकर आया है, कोई मामूली बात नहीं है।'

रघुपति—'देखना है इस बार कौन किसको निर्वासित करता है? क्योंजी?'

नक्षत्र राय—'मैं अपनी इच्छानुसार निर्वासन दण्ड दे सकता हूँ, जेल भेज सकता हूँ तथा प्राण-दण्ड की भी आज्ञा दे सकता हूँ। पर इस समय मैं तय नहीं कर पा रहा हूँ कि कौन-सा दण्ड दूँगा।'

इतना कहकर वे बहुत विचार-पूर्वक नाना प्रकार की विवेचना करने लगे।

रघुपति—'बहुत विचार न करिए महाराज! अभी बहुत समय है। किन्तु मुझे भय हो रहा है कि गोविन्द माणिक्य युद्ध किये बिना ही आपको पराजित करेंगे।'

नक्षत्र राय—'यह कैसे होगा?'

रघुपति—'गोविन्द माणिक्य सेना को छिपाकर बड़ा भ्रातृ-स्नेह दिखायेंगे। वे गले से मिलकर कहेंगे 'ऐ मेरे प्यारे भाई! आओ घर चलो, दूध-भात खाओगे।' महाराज रोकर कहेंगे—'जो आज्ञा! मैं अभी चल रहा हूँ। विशेष देर न होगी।' इतना कहकर आप नागरा जूता पहनकर बड़े भाई के पीछे-पीछे सिर झुकाये टट्टू के समान चलेंगे और बादशाह

की मुगल-सेना तमाशा देखकर हँसती हुई घर लौट जायगी।'

नक्षत्र राय रघुपति के मुख से इस तीक्ष्ण व्यंग को सुनकर अत्यन्त कातर हो गये। वे कुछ हँसने की निष्फल चेष्टा करके बोले—'क्या हमें दुधमुँहा बच्चा समझ लिया है जो इस प्रकार करके फुसला लेंगे। यह नहीं हो सकता, यह नहीं होगा ठाकुर! देख लेना।'

उसी दिन गोविन्द माणिक्य का पत्र आया। उस पत्र को रघुपति ने खोला। राजा ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए भेंट करने की प्रार्थना की थी। उन्होंने पत्र नक्षत्र राय को न दिखाया। दूत से कह दिया—'कष्ट उठाकर गोविन्द माणिक्य को इतनी दूर आने की आवश्यकता नहीं। सेना तथा तलवार लेकर महाराज नक्षत्र राय शीघ्र ही उनसे भेंट करेंगे। गोविन्द माणिक्य प्यारे भाई के विरह में अधिक कातर न हों। आठ साल निर्वासित रहते तब तो और भी अधिक समय तक विच्छेद की सम्भावना थी।'

इसके बाद रघुपति नक्षत्र राय के पास जाकर बोले—'गोविन्द माणिक्य ने अपने निर्वासित छोटे भाई को अत्यन्त स्नेहपूर्ण एक पत्र लिखा है।'

नक्षत्र राय बड़ी उपेक्षापूर्ण भाव से हँसकर बोले—'क्या सचमुच!' कौन-सा पत्र है देखूँ तो।' इतना कहकर हाथ बढ़ा दिया।

रघुपति ने कहा—'वह पत्र महाराज को दिखाना मैंने आवश्यक न समझा था। उसी समय फाड़कर फेंक दिया और कहला दिया कि युद्ध के अतिरिक्त इसका और कोई उत्तर नहीं।'

नक्षत्र राय ने हँसते-हँसते कहा—'ठीक किया ठाकुर जो तुमने कह दिया कि युद्ध के अतिरिक्त इसका कोई उत्तर नहीं, ठीक उत्तर दिया आपने।'

रघुपति—'गोविन्द माणिक्य यह उत्तर सुनकर सोचेंगे कि जब मैंने निर्वासन दण्ड दिया था तब तो भाई बड़ी आसानी से चला गया था

पर वही भाई घर वापस आने के समय कम गड़बड़ी नहीं कर रहा है।'

नक्षत्र राय—'समझेंगे कि भाई कोई मामूली आदमी नहीं कि जब चाहा निर्वासित कर दिया और जब मन में आया बुला लिया। यह अब हो ही नहीं पायेगा।'

इतना कहकर वे बड़े आनन्द से दुबारा फिर हँसने लगे।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्र राय का उत्तर सुनकर गोविन्द माणिक्य के हृदय को बड़ी चोट पहुँची। बिल्वन ने मन में सोचा कि इस बार तो महाराज कोई आपत्ति न करेंगे, किन्तु गोविन्द माणिक्य बोले—'यह बात कभी भी नक्षत्र राय की नहीं है। यह उसी पुजारी ने कहला भेजा है। नक्षत्र राय के मुख से ऐसी बात कभी निकल ही नहीं सकती।'

बिल्वन—'महाराज! अब आपने कौन-सा उपाय निश्चित किया है?'

राजा—'मैं नक्षत्र राय से एक बार किसी तरह मिल पाऊँ तो सब कुछ निपटा सकता हूँ।'

बिल्वन—'और यदि भेंट न हुई?'

राजा—'तब तो मैं राज्य छोड़कर चला जाऊँगा।'

बिल्वन—'अच्छा, मैं एक बार प्रयत्न करता हूँ।'

पहाड़ के ऊपर नक्षत्र राय का शिविर था। घना जङ्गल था—बाँस का जङ्गल, बेंत का वन और नरकट के जङ्गल। अनेक प्रकार के लता-गुल्मों से पृथ्वी आच्छादित थी। सैनिक जङ्गली हाथियों के चलने वाले रास्ते पर चलकर पहाड़ के शिखर पर चढ़ गये थे। इस समय दिन ढल चुका था। सूर्य पहाड़ के पश्चिमी प्रान्त में छिप रहा था और पूर्व की ओर अन्धकार छा गया था। गोधूलि की छाया और वृक्षों की छाया के मिल जाने से वन में बिना समय के ही सन्ध्या हो गई थी। शीत कालीन सायंकाल में पृथ्वी से कुहासे की तरह भाप उठ रही थी। झींगुर के शब्द सुनसान जङ्गल में गूँज रहे थे।

जब बिल्वन शिविर के पास पहुँचे, उस समय सूर्य पूर्णतया अस्त हो चुका था किन्तु पश्चिमी गगन में सुनहरी किरणें अब भी शेष थीं। पश्चिमी दिशा में समतल अलका पर सुनहरी छाया से रंजित घना जङ्गल शान्त हुरे समुद्र की तरह दिखाई पड़ रहा था। सेनायें कल यात्रा करने वाली ही थीं। रघुपति भी एक टुकड़ी सेना और सेनापति को साथ लेकर रास्ता ढूँढ़ने के लिए निकले थे। वे अभी तक लौटे न थे। यद्यपि रघुपति की अनुपस्थिति में नक्षत्र राय के समीप किसी को जाने देने की आज्ञा न थी, फिर भी संन्यासी वेशधारी बिल्वन को किसी ने न रोका।

बिल्वन ने नक्षत्र राय के पास जाकर कहा—'महाराज गोविन्द माणिक्य ने आपको स्मरण करके यह पत्र लिखा है।'

इतना कहकर पत्र नक्षत्र राय को दे दिया। नक्षत्र राय ने काँपते हुए हाथों से पत्र ले लिया। उसको खोलने में उन्हें लज्जा और भय मालूम होने लगा। जब तक रघुपति गोविन्द माणिक्य और उनके बीच रुकावट डाले खड़े रहते तब तक नक्षत्र राय विशेष निश्चिन्त रहते थे। वे किसी प्रकार मानो गोविन्द माणिक्य को देखना न चाहते थे। गोविन्द माणिक्य के इस दूत के एक बारगी सामने खड़े आकर होने से नक्षत्र राय न जाने कितने सङ्कोच में पड़ गये तथा मन-ही-मन कुछ विरक्त से हो गये। उनके मन में यह इच्छा उत्पन्न होने लगी कि यदि रघुपति उपस्थित होते तो इस दूत को उनके पास न आने देते! अपने मन में बड़ा आगा-पीछा करके उन्होंने पत्र खोला।

उस पत्र में किसी भी प्रकार की भर्त्सना न थी। गोविन्द माणिक्य ने उनको लज्जित करते हुए एक भी बात न लिखी थी। उन्होंने अपने भाई से तनिक भी घमण्ड न दिखाया था। जिस सेनादि को लेकर नक्षत्र राय उन पर आक्रमण करने आये थे उसका उन्होंने उल्लेख तक न किया था। उन दोनों में जैसा पहले भाव था इस समय भी मानो उसी प्रकार का अविकल भाव वर्तमान था। फिर भी पत्र में केवल अत्यन्त गम्भीर स्नेह एवं विषाद निहित था। उसके द्वारा कोई स्पष्ट बात व्यक्त न होने के

कारण नक्षत्र राय के हृदय पर काफी आघात लगा।

पत्र पढ़ते-पढ़ते क्रमशः उनके मुख के भाव बदलने लगे। उनके हृदय पर पड़ा हुआ पत्थर का आवरण देखते-देखते फट गया। पत्र उनके हिलते हुए हाथों में काँपने लगा। वे उस पत्र को बड़ी देर तक अपने मस्तक से लगाये रहे। उस पत्र में भाई का जो आशीर्वाद था वह मानो शीतल निर्झर के समान उनके संतप्त हृदय पर झरने लगा। बड़ी देर के बाद स्थिर होकर वे सुदूर पश्चिम में सन्ध्या की लालिमा से रंजित श्यामल वन-भूमि की ओर टकटकी निगाह से देखते रहे। चारो ओर निस्तब्ध सन्ध्या अतलस्पर्शी, शब्दहीन एवं शान्त समुद्र की तरह जागृत थी। क्रमशः उनके नेत्रों में आँसू दिखाई पड़े और फिर तेजी से वे बाहर गिरने लगे। सहसा लज्जा तथा अनुताप के कारण नक्षत्र राय ने अपने दोनों हाथों से मुँह ढँक लिया।

वे रोकर बोले—'मैं यह राज्य नहीं चाहता भइया! मेरे सभी अपराध क्षमा करके मुझे अपने चरणों में शरण दो। मुझे अपने पास ही रक्खो, फिर अलग न करना।'

बिल्वन कुछ न बोले। चुपचाप बैठे देखते रहे। अन्त में जब नक्षत्र राय सुस्थिर एवं शान्त हुए, तब बोले—'युवराज! गोविन्द माणिक्य आपकी राह देखते हुए बैठे हैं। अब अधिक देर न कीजिए!'

नक्षत्र राय ने पूछा—'क्या वे मुझे क्षमा कर देंगे?'

बिल्वन—'वे युवराज के प्रति तनिक भी रुष्ट नहीं हैं। अधिक रात होने पर मार्ग में कष्ट होगा। जल्दी से एक घोड़ा ले लीजिए। पर्वत के नीचे महाराज के अनुचर प्रतीक्षा कर रहे हैं।'

नक्षत्र राय—'मैं छिपकर भाग चलूँ। सैनिकों से बताने का कोई काम नहीं। अब क्षणभर भी देर करना ठीक नहीं। जितनी ही जल्दी यहाँ से बाहर हो जाया जाय उतना ही अच्छा है।'

बिल्वन—'ठीक बात है।'

'तीन शृङ्गों वाले पर्वत पर संन्यासी के साथ पूजा करने जा रहा हूँ'—

यह कहकर नक्षत्र राय बिल्वन के साथ घोड़े पर सवार हुए। अनुचर साथ में जाना चाहते थे। पर उन्होंने उनको अपने साथ ले जाने से मना कर दिया।

वे बाहर हुए ही थे कि घोड़ों के टापों की आवाज और सेनाओं का कोलाहल सुनाई पड़ा। नक्षत्र राय अत्यन्त संकुचित हो गये। देखते-ही-देखते रघुपति सेना लेकर लौट आये और विस्मित होकर बोले—'महाराज, कहाँ जा रहे हैं?' नक्षत्र राय कुछ भी उत्तर न दे सके।

नक्षत्र राय को चुप देखकर बिल्वन ने कहा—'महाराज गोविन्द माणिक्य से भेंट करने जा रहे हैं?'

रघुपति ने बिल्वन को एक बार सिर से पैर तक देखा! एक बार भौंहें भी सिकोड़ीं और फिर अपने को रोक कर बोले—'आज इस समय हम लोग अपने महाराज को बिदा नहीं कर सकते। घबराने की तो कोई बात है ही नहीं। कल प्रातःकाल ही तो यात्रा करनी होगी, ठीक है न महाराज।'

नक्षत्र राय ने धीरे से कहा—'कल सबेरे ही जाऊँगा। आज रात हो गई है।'

बिल्वन ने निराश होकर वह रात शिविर में ही बिताई। दूसरे दिन प्रातःकाल नक्षत्र राय के पास जाने की उन्होंने चेष्टा की, पर सैनिकों ने रोका। उन्होंने देखा कि चारों ओर पहरा पड़ रहा है, कहीं से भी मौका नहीं। अन्त में रघुपति के पास जाकर बोले—'यात्रा का समय हो गया है, युवराज को सूचना दे दें।'

रघुपति—'महाराज ने न जाने का निश्चय कर लिया है।'

बिल्वन—'मैं उनसे एक बार भेंट करना चाहता हूँ।'

रघुपति—'भेंट न होगी—यही उन्होंने कहा है।'

बिल्वन—'महाराज गोविन्द माणिक्य के पत्र का उत्तर चाहिए।'

रघुपति—पत्र का उत्तर इसके पूर्व एक बार दिया जा चुका है।'

बिल्वन—'मैं उनके ही मुख से उत्तर सुनना चाहता हूँ।'

रघुपति—इसका कोई उपाय नहीं।'

बिल्वन ने समझ लिया कि प्रयत्न करना बेकार है। केवल समय और शब्दों का अपव्यय है। जाते समय वे रघुपति से कहते गये—'ब्राह्मण! तुम क्यों सर्वनाश करने में प्रवृत्त हुए हो? यह ब्राह्मण का कर्त्तव्य नहीं है।'

छत्तीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ने लौटने के बाद देखा कि इस बीच राजा ने कुछ सैनिकों को बिदा कर दिया था। उन्होंने राज्य में उपद्रव प्रारम्भ कर दिया था। राजा ने सेना को प्रायः भङ्ग कर दिया, युद्ध करने का कोई विशेष उद्योग नहीं था। बिल्वन ने वापस आकर राजा को सारा विवरण सुनाया।

राजा ने कहा—'तब तो पुजारीजी मैं बिदा होता हूँ। नक्षत्र के लिए राज्य और धन सब कुछ छोड़कर मैं जा रहा हूँ।'

बिल्वन—'असहाय प्रजा को दूसरे के अधीन छोड़कर आप भागेंगे—यह सोचकर मैं किसी भी तरह प्रसन्न-चित से आपको बिदा नहीं दे सकता महाराज! विमाता के हाथ में पुत्र को सौंप कर भारयुक्त माता ने शान्ति प्राप्त कर ली—क्या इसकी कल्पना की जा सकती है?'

राजा—'पुजारीजी! आपके वाक्य मेरे हृदय में दूर तक चुभ जाते हैं। किन्तु इस बार हमें क्षमा करें। मुझसे और अधिक कुछ न कहिए, मुझे विचलित करने की चेष्टा न करिए। आप जानते ही हैं पुजारी जी कि मैंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर ली है कि अब फिर रक्तपात न करूँगा, उस प्रतिज्ञा को मैं तोड़ नहीं सकता।'

बिल्वन—'तब इस समय महाराज क्या करेंगे?'

राजा—'तो सुनिए मैं सब कुछ बताता हूँ। मैं ध्रुव को साथ लेकर वन में जाऊँगा। पुजारी जी! मेरा जीवन एकदम अधूरा रह गया। जो सोचा था उसका कुछ भी न कर पाया। जीवन का जितना भाग बीत चुका है उसको लौटाकर नये तरीके से गढ़ नहीं सकता। पुजारी जी! मेरे

मन में हो रहा है कि मानो कोई अदृष्ट व्यक्ति हम लोगों को तीर के समान फेंक रहा है और लक्ष्य से यदि एक बार तनिक भी हट गया तो जान पड़ता है कि सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी लक्ष्य की ओर नहीं लौट सकूँगा। जीवन के आरम्भकाल ही में मैं जो उससे विचलित हो गया अतः जीवन के शेष समय में मैं उस लक्ष्य को फिर नहीं ढूँढ़ पा रहा हूँ। जो सोचता हूँ वह होता नहीं। जिस समय जागृत होकर आत्मरक्षा कर सकता था उस समय जाग न पाया। जब डूब गया हूँ तब जाकर चेतना आई है। समुद्र में डूबते समय लोग जिस भाव से लकड़ी के एक टुकड़े का सहारा लेते हैं उसी प्रकार मैं बालक ध्रुव का सहारा पकड़े हूँ। मैं ध्रुव में ही सन्तुष्ट होकर ध्रुवरूप में ही पुनर्जन्म प्राप्त करूँगा। मैं आरम्भ से ही ध्रुव को मनुष्य बनाऊँगा, ध्रुव के साथ तिल-तिल करके मैं भी बढ़ता रहूँगा, मैं अपने मनुष्य-जन्म को पूरा करूँगा। पुजारी जी! मैं तो मनुष्य की तरह भी नहीं हूँ, राजा होकर क्या करूँगा?'

शेष बातें राजा ने बड़े आवेग के साथ कहीं जिसे सुनकर ध्रुव ने राजा के घुटनों पर अपने सर को रगड़ते हुए कहा—'मैं राजा।'

बिल्वन ने हँसकर ध्रुव को उठा लिया। बड़ी देर तक उसके मुख की ओर देखकर अन्त में राजा से बोले—'क्या कहीं जङ्गल में भी मनुष्य गढ़ा जाता है? वन में केवल उद्भिज पदार्थ ही पैदा किये जा सकते हैं। मानव, मानव समाज में ही बढ़ता है।'

राजा ने उत्तर दिया—'मैं एकदम बनवासी नहीं होऊँगा। केवल मनुष्य समाज से कुछ दूर रहूँगा, फिर भी समाज से सारा सम्बन्ध विच्छेद न करूँगा, यह कुछ ही दिनों के लिए है।'

इधर नक्षत्र राय सेना के साथ राजधानी के समीप आ पहुँचे। प्रजा का धनधान्य लूटा जाने लगा। प्रजा केवल गोविन्द माणिक्य को ही शाप देने लगी। प्रजा कहने लगी कि यह सब कुछ केवल राजा के पाप के कारण ही हो रहा है।

राजा केवल एक बार रघुपति से भेंट करना चाहते थे। रघुपति के

आने पर उन्होंने कहा—'अब क्यों प्रजा को कष्ट दे रहे हो ? मैं नक्षत्र राय को राज्य देकर चला जा रहा हूँ । तुम मुगल सेना को लौटा दो !'

रघुपति बोले—'जो आज्ञा । आपके जाते ही मैं मुगल सेना को लौटा दूँगा । 'त्रिपुरा लूटा जाय'—यह मेरी इच्छा नहीं ।'

राजा ने उसी दिन राज्य छोड़कर जाने की तैयारी की । अपने राजवेष को त्याग दिया और गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया । नक्षत्र राय को राजा के सभी कर्त्तव्यों को बताते हुए अत्यन्त आशीर्वादयुक्त पत्र लिखा ।

अन्त में राजा ने ध्रुव को गोद में उठाकर कहा—'ध्रुव, मेरे साथ वन चलोगे बच्चा ?'

ध्रुव ने उसी समय राजा की गरदन पकड़कर कहा—'चलूँगा ।'

इसी समय राजा के मन में आया कि ध्रुव को साथ ले जाने के लिए उसके चाचा केदारेश्वर की राय ले लेना आवश्यक है । केदारेश्वर को बुलाकर राजा ने कहा—'केदारेश्वर ! तुम्हारी सम्मति पाकर मैं ध्रुव को अपने साथ ले जाऊँगा ।'

ध्रुव दिन-रात राजा के ही पास रहा करता था । इस कारण चाचा के साथ उसका विशेष सम्पर्क न था । इसलिए शायद राजा के मन में यह कभी भी न आया था कि ध्रुव को साथ ले जाने में केदारेश्वर को कोई आपत्ति होगी ।

राजा की बात को सुनकर केदारेश्वर ने कहा—'यह मैं नहीं कर सकता महाराज !'

इसको सुनकर राजा भौचक्के से हो गये । उनके ऊपर मानो सहसा वज्र गिर पड़ा । वे कुछ देर चुप रहने के बाद बोले—'केदारेश्वर ! तुम भी मेरे साथ चलो ।'

केदारेश्वर—'नहीं महाराज ! मैं वन न जा सकूँगा ।'

राजा ने कातर होकर कहा—'मैं वन न जाऊँगा । मैं धन और अनुचरों के साथ नगर में ही रहूँगा !'

केदारेश्वर—'मैं देश छोड़कर नहीं जा सकता ।'

राजा ने कुछ भी न कहकर एक लम्बी साँस छोड़ी। उनकी सारी आशाओं पर तुषारपात हो गया। क्षणभर में ही मानो पृथ्वी का रूप ही बदल गया। ध्रुव अपने आप खेल रहा था। राजा बड़ी देर तक उसकी ओर देखते रहे फिर भी मानो उसको भर आँखों देख ही न पाये थे। ध्रुव ने उनके वस्त्र के छोर को झटका देकर कहा—'आओ खेलो।'

राजा का सम्पूर्ण हृदय द्रवित होकर आँखों में आ गया। उन्होंने बड़े कष्ट से आँसू रोके। मुँह फेरकर टूटे हुए दिल से बोले—'तो ध्रुव रहे, मैं अकेला ही जाता हूँ।' शेष जीवन का बहुत बड़ा रेतीला मार्ग मानो क्षण भर में बिजली के प्रकाश में उनकी पुतलियों में अङ्कित हो गया।

केदारेश्वर ने ध्रुव के खेल को बिगाड़कर उससे कहा—'आओ, मेरे साथ आओ।' इतना कहकर उसका हाथ पकड़कर जोर से खींचा।

ध्रुव रोता हुआ बोला—'न।'

राजा ने चकित होकर ध्रुव की ओर मुँह घुमाकर देखा। ध्रुव ने दौड़ते हुए आकर राजा को जकड़कर चटपट उनके दोनों घुटनों में अपने मुख को छिपा लिया। राजा ने उसे गोद में उठाकर अपने सीने से चिपका लिया। उनका विशाल हृदय विदीर्ण होना चाहता था पर छोटे ध्रुव को सीने से चिपकाकर उन्होंने अपने हृदय को दबा लिया। ध्रुव को उसी अवस्था में गोद में रखकर वे बड़े कमरे में टहलने लगे। ध्रुव कन्धे पर मस्तक रक्खे हुए अत्यन्त शान्त होकर पड़ा रहा।

अन्त में यात्रा का समय हो गया। ध्रुव राजा की गोद में सोया हुआ था। सोते हुए ध्रुव को धीरे-धीरे केदारेश्वर के हाथ में देकर राजा निकल पड़े।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

पूर्वी द्वार से सेना आदि लेकर नक्षत्र राय ने राजधानी में प्रवेश किया और कुछ धन तथा कई अनुचरों को साथ लेकर गोविन्द माणिक्य

ने पश्चिमी द्वार की ओर यात्रा की। नागरिकों ने गाजे-बाजे के साथ जय-जयकार के नारे लगाकर और शङ्ख बजाकर नक्षत्र राय का स्वागत किया। गोविन्द माणिक्य घोड़े पर सवार होकर जिस मार्ग से जा रहे थे उस रास्ते पर किसी ने उनका सम्मान करना आवश्यक न समझा। दोनों ओर घरों में रहनेवाली स्त्रियाँ उनको सुना-सुनाकर गालियाँ देने लगीं। भूखे बालकों के रोने के कारण उनकी जीभ तेज हो गई थी। दूसरी ओर महान अकाल के समय जिन वृद्धा स्त्रियों ने राजद्वार पर जाकर भोजन पाया था और जिनको राजा ने स्वयं सान्त्वना दी थी वे भी अपने अशक्त हाथों को उठाकर राजा को श्राप देने लगीं। बालक अपनी माताओं द्वारा सिखलाये जाकर मुँह चिढ़ाते हुए राजा के पीछे पीछे चले।

बायें-दायें किसी भी ओर न देखकर राजा धीरे-धीरे चलने लगे। एक जमिया (कृषक) खेत से आ रहा था। उसने राजा को देखकर भक्ति-भाव से प्रणाम किया। राजा का हृदय आर्द्र हो गया। उन्होंने उससे स्नेहाकुल कण्ठ से विदा माँगी। उनकी सारी प्रजाओं में केवल यही एक जूमिया (कृषक) था जिसने उनके राजत्व के अवसान के समय उनको भक्ति-पूर्ण दुःखित हृदय से विदा किया। राजा के पीछे शोर मचाते हुए देखकर उसने अत्यन्त क्रोधित होकर उन सब को डाँटा। राजा ने उसको मना कर दिया।

अन्त में राजा उस स्थान पर पहुँचे जहाँ केदारेश्वर का मकान था। तब उन्होंने एक बार दक्षिण की ओर मुड़कर देखा। यह शरद्कालीन प्रभात था। कुहासे को चीरकर सूर्य की किरणें अभी अभी दृष्टिगोचर हुई थीं। मकान को देखकर राजा को बीते आषाढ़ महीने के एक प्रातःकाल का स्मरण हो आया जब कि घनघोर बादल थे और घोर वर्षा हो रही थी। उन्हें ऐसा लगने लगा कि द्वितिया के क्षीण चन्द्रमा के समान बालिका 'हासि' बेहोशी की हालत में चारपाई के किनारे करवट ले सोई हुई है। छोटा 'ताता' कुछ भी न समझता हुआ कभी तो दीदी के अञ्चल के कोर को मुँह में डाले उसके मुख की ओर देख रहा है तो कभी अपने

गोल-गोल छोटे-छोटे और मोटे मोटे हाथों से धीरे-धीरे दीदी के मुख को थपथपा रहा है।

सहसा बालकों के शोर में से एक सुमधुर कण्ठध्वनि राजा के कानों में पड़ी। उन्होंने देखा कि बालक ध्रुव अपने छोटे-छोटे पैर फेंकता हुआ दोनों हाथ उठाये हँसता उनके पास दौड़ा चला आ रहा है। केदारेश्वर नये राजा के सामने सम्मान प्रदर्शित करने गये हुए थे। घर में केवल एक ध्रुव और एक नौकरानी थी। गोविन्द माणिक्य घोड़ा रोककर उतर पड़े। ध्रुव दौड़कर, खिलखिलाकर हँसता हुआ एक बारगी उनके ऊपर कूद पड़ा। वह उनके वस्त्र को खींचकर घुटनों के बीच सिर छिपाकर और अपने प्रथम आनन्दोच्छ्वास के अवसान होने पर गम्भीर होकर बोला—'मैं टिक्-टिक् चढ़ूँगा।'

राजा ने उसको घोड़े पर चढ़ा दिया। घोड़े पर चढ़कर उसने जोर से राजा की गरदन पकड़ ली और अपने कोमल कपोल को राजा के गाल पर सटाकर रख दिया। ध्रुव अपनी छोटी बुद्धि द्वारा जाने किस परिवर्तन का राजा में अनुभव करने लगा। घोर निद्रा को तोड़ने के लिए लोग जिस प्रकार भाँति-भाँति के उपाय करते हैं उसी प्रकार ध्रुव ने उनको खींचकर, लिपटकर, चुम्बन लेकर किसी भी तरह राजा के पहले भाव को लौटा लाने के लिए अनेक चेष्टायें कीं। अन्त में असफल होकर मुँह में एक-दो अँगुली डालकर बैठा रहा। राजा ने ध्रुव के भाव को समझकर बार-बार उसका चुम्बन लिया।

अन्त में वे बोले—'ध्रुव, अब तो मैं जाता हूँ।'

ध्रुव ने राजा के मुख की ओर देखकर कहा—'मैं जाऊँगा।'

राजा—'तुम कहाँ जाओगे, तुम अपने चाचा के पास रहो।'

ध्रुव ने फिर कहा—'न, मैं भी जाऊँगा।'

इसी समय घर से बूढ़ी नौकरानी भुनभुनाती और बड़बड़ाती हुई आ पहुँची। जोर से ध्रुव के हाथ को खींचकर बोली—'चल!'

ध्रुव ने उसी दम भयभीत होकर बलपूर्वक दोनों हाथों से राजा को जकड़कर उनके वक्षस्थल में मुँह छिपा लिया। राजा ने कातर होकर विचार किया कि वक्षस्थल से शिरायें तो खींचकर तोड़ी जा सकती हैं, इन दोनों

हाथों का बन्धन क्या विच्छिन्न किया जा सकता है ? किन्तु उसे तोड़ना ही होगा। धीरे-धीरे ध्रुव के दोनों हाथ छुड़ाकर बलपूर्वक उन्होंने उसको सेविका के हाथों में दे दिया। ध्रुव जोर से रो पड़ा और हाथ उठाकर बोला—'बाबा, मैं जाऊँगा !' राजा ने पीछे न देखकर जल्दी से घोड़े पर चढ़कर दौड़ाया। वे जितनी दूर जाते, ध्रुव का आकुल-क्रन्दन सुन पाते। ध्रुव केवल अपने दोनों हाथ उठाये कहने लगा—'बाबा मैं भी जाऊँगा।' अन्त में राजा के शान्त नेत्रों से आँसू गिरने लगे। वे रास्ता और घाट आदि कुछ भी न देख सके। वाष्प-जाल में सूर्य का प्रकाश और सारा संसार मानो छिप गया। घोड़ा अपनी इच्छानुसार दौड़ने लगा।

रास्ते में एक जगह मुगल-सैनिकों का एक दल आकर राजा की ओर देखकर हँसने लगा यहाँ तक कि उन्होंने राजा के अनुचरों के साथ कठोर छेड़छाड़ भी प्रारम्भ कर दी। राजा का एक सभासद घोड़े पर जा रहा था। वह इस दृश्य को देखकर दौड़ा हुआ राजा के पास आया और बोला—'महाराज ! यह अपमान अब तो सहा नहीं जाता। महाराज के इस दीन वेष को देखकर ये इतने ढीठ हो गये हैं। यह लीजिए तलवार और ढाल। महाराज कुछ देर रुकें, मैं अपने आदमियों को ले आकर इन बर्बरों को एक बार शिक्षा दे दूँ।'

राजा ने कहा—'नहीं नयन राय। मुझे ढाल-तलवार की आवश्यकता नहीं। यह मेरा क्या करेंगे। मैं इस समय इनकी अपेक्षा भारी अपमान सहन कर सकता हूँ। नङ्गी तलवार लेकर मैं इस पृथ्वी के लोगों द्वारा अब सम्मान प्राप्त करना नहीं चाहता। पृथ्वी के सर्वसाधारण लोग जिस प्रकार अच्छे और बुरे समय में मानापमान और सुख-दुख सहकर रहते हैं मैं भी जगदीश्वर का ध्यान करके उसी प्रकार सहन करूँगा। बन्धुगण विपक्षी हो गये हैं, आश्रित कृतघ्न और शरणागत अविनयशील। एक समय था जब ये सारी बातें मुझे असह्य होतीं किन्तु इस समय इनको सहने में ही मैं अपने हृदय में आनन्द पा रहा हूँ। जो मेरे बन्धु हैं उन्हें मैं जानता हूँ। जाओ, नयन राय तुम लौट जाओ। नक्षत्र राय को आदरपूर्वक स्वागत करके ले आओ। मेरा जैसा सन्मान करते हो नक्षत्र का भी वैसा ही आदर करना।'

इतना कहकर राजा अपने सभासद से गले मिलकर आगे बढ़े। सभासद उनको प्रणाम कर अपने आँसू पोंछता हुआ चला गया।

जब राजा गोमती के किनारे की ऊँची भूमि के समीप पहुँचे उस समय पुजारी बिल्वन जङ्गल से निकलकर उनके सामने आये और हाथ उठाकर बोले—'जय हो!'

राजा ने घोड़े से उतर कर उनको प्रणाम किया।

बिल्वन ने कहा—'मैं आप से बिदा लेने आया हूँ।'

राजा—'पुजारी जी! आप नक्षत्र के पास रहकर उसको उचित परामर्श दें और राज्य का हित करें।'

बिल्वन—'न, आप जहाँ पर राजा नहीं वहाँ मैं अकर्मण्य हूँ। यहाँ रहकर मैं और कोई काम न कर पाऊँगा।'

राजा—'तो कहाँ जायँगे पुजारी जी! आप मुझपर दया करें, आपको पाकर मेरे दुर्बल हृदय में बल आ जाता है।'

बिल्वन—'कहाँ मेरा काम है? मैं उसी खोज में जा रहा हूँ। चाहे मैं पास में रहूँ अथवा दूर, आपके प्रति मेरा प्रेम कभी भी विच्छिन्न न हो सकेगा इसे आप जान लें।'

राजा ने मधुर वाणी में कहा—'तो मैं बिदा होता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने दुबारा प्रणाम किया।

बिल्वन एक ओर चले गये और राजा दूसरी ओर।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्र राय ने छत्र माणिक्य के नाम से समारोह-पूर्वक राजपद ग्रहण किया। राजकोष में अधिक धन न था। प्रजा को लूट कर कथित धन मुगल सेना को देकर बिदा करना पड़ा। छत्र माणिक्य घोरतर अकाल और दरिद्रता में राज्य करने लगे। चारों ओर से अभिशाप एवं रुदन की वर्षा होने लगी।

जिस आसन पर गोविन्द माणिक्य बैठते थे, जिस शय्या पर वे सोते थे और जो लोग उनके प्रिय सहचर थे, वे मानो रात-दिन छत्र माणिक्य

को एकान्त में कोसने लगे। छत्र माणिक्य को वे क्रमशः असह्य प्रतीत होने लगे। उन्होंने अपनी आँखों के सामने से गोविन्द माणिक्य के सभी चिह्नों को मिटाना शुरू कर दिया। गोविन्द माणिक्य द्वारा प्रयोग की जानेवाली वस्तुओं को नष्ट कर दिया एवं उनके प्रिय अनुचरों को भी निकाल दिया। वे उनके नाम की गंध तक सहन न कर पाते थे। गोविन्द माणिक्य की कोई बात चलते ही उनके मन में उठने लगता कि सभी उनको लक्ष्य करके ही वह बात चला रहे हैं। सदैव उनके मन में विचार आता कि सभी उनको राजा कहकर यथेष्ठ सम्मान नहीं करते। इसीलिए वे सहसा बिना कारण ही झल्ला उठते और सभासद भी परेशान हो जाते।

वे राज्य के शासन के बारे में कुछ भी न समझते थे किन्तु यदि कोई राय देता तो बिगड़कर कहते—'क्या मैं इतना भी नहीं जानता? तुमने क्या मुझको बिल्कुल बेवकूफ समझ लिया है?'

चारों ओर प्रजा असन्तोष प्रकट करने लगी। इससे छत्र माणिक्य और भी जल उठे। उन्होंने सोचा कि यहाँ राजा का अनादरमात्र है। उन्होंने असन्तोष का दुगुना कारण पैदा करने के लिए बल-पूर्वक भय दिखाकर सबका मुँह बन्द कर दिया। सारा राज्य प्रसुप्त अर्ध रात्रि के समान मूक हो गया। वे शान्त नक्षत्र राय, छत्र माणिक्य होकर ऐसा व्यवहार करेंगे—इसमें आश्चर्य की बात नहीं। बहुत बार दुर्बल हृदय मनुष्य प्रभुत्व पा जाने के बाद इसी प्रकार कठोर और स्वेच्छाचारी हो जाते हैं।

रघुपति का कार्य समाप्त हो चुका था। आखिरकार जो प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति उनके हृदय में समान रीति से जागृत थी वह अब न थी। क्रमशः प्रतिहिंसा का भाव समाप्त हो गया था। अब जिस कार्य में हाथ लगाया था उसको पूरा करना उनका एकमात्र व्रत हो गया। अनेक प्रकार के कौशल से सभी बाधाओं और विपत्तियों को कुचलकर दिन-रात एक ही उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहकर वे एक प्रकार के मादक सुख का अनुभव करते। अन्त में उनका वह उद्देश्य पूरा हो गया। पृथ्वी पर और कहीं भी सुख नहीं।

रघुपति ने अपने मन्दिर में जाकर देखा कि उस स्थान पर जन-प्राणी

कोई भी नहीं। यद्यपि रघुपति भली-भाँति जानते थे कि जयसिंह नहीं है तथापि मन्दिर में प्रवेश करके मानो दोबारा नये सिरे से समझे कि जयसिंह नहीं हैं। एक बार मन में आया कि वे हैं फिर याद आता कि नहीं। सहसा वायु के कारण किवाड़ खुल गया। उन्होंने चौंककर मुँह झुकाकर देखा, जयसिंह न थे। जयसिंह जिस कमरे में रहते, ऐसा लगा मानो उसी कमरे में हो सकते हैं। किन्तु वे बहुत देर तक उस कमरे में प्रवेश न कर सके। मन में डर लगता था कि जाकर देखें कहीं जयसिंह न हो तब ?

अन्त में जब गोधूलि की क्षीण छाया वन की घनी छाया में मिल गई तब रघुपति ने धीरे-धीरे कमरे में प्रवेश किया—शून्य, निर्जन कमरा समाधि-भवन की तरह निस्तब्ध। कमरे में एक ओर थी काठ की एक सन्दूक और बगल में जयसिंह का एक जोड़ा खड़ाऊँ धूल से मलिन हुआ पड़ा था। दीवाल पर जयसिंह के हाथों द्वारा निर्मित काली की मूर्ति थी। पूर्वी कोने में धातु का एक दीपक धातु के ही आधार पर स्थित था। गत वर्ष से किसी ने उसे जलाया न था। वह मकड़ी के जाल से ढक गया था। पास की दीवाल पर दीपक की लौ का काला दाग पड़ गया था। घर में पूर्वोक्त कतिपय वस्तुओं को छोड़कर और कुछ भी न था। रघुपति ने एक गम्भीर निःश्वास छोड़ा। वह निःश्वास उस शून्य कमरे में गूँज उठा। क्रमशः अन्धकार में और कुछ भी दिखाई न पड़ रहा था। एक छिपकिली बीच में टिक्-टिक् शब्द करने लगी। रघुपति सन्दूक पर बैठे हुए काँपने लगे।

इस प्रकार उन्होंने एक महीना इस निर्जन स्थान पर बिताया किन्तु इस तरह अधिक दिन काटा न जा सकता था। पुरोहिती छोड़नी ही पड़ी। वे राज-सभा में गये। उन्होंने राज्य-शासन में हस्तक्षेप किया। देखा कि अविचार, उत्पीड़न और विशृङ्खला छत्र माणिक्य के रूप में राज्य कर रही थी। उन्होंने राज्य में एकसूत्रता लाने की चेष्टा की। वे छत्र माणिक्य को परामर्श देने लगे।

छत्र माणिक्य बिगड़कर बोल उठे—'ठाकुर! राज्य-व्यवस्था के बारे में आप क्या जानें ? इन सारी बातों को आप कुछ भी नहीं समझते।'

रघुपति राजा के प्रताप को देखकर अवाक् रह गये। देखा कि यह अब वह नक्षत्र राय न थे। रघुपति के साथ राजा की खटपट प्रारम्भ हो गई। छत्र माणिक्य ने मन में सोचा कि 'रघुपति केवल यही समझते हैं कि उन्होंने ही मुझे राजा बनाया है।' इसी कारण रघुपति को देखना उन्हें बुरा लगता था।

अन्त में एक दिन स्पष्ट रूप से उन्होंने कह दिया—'ठाकुर ! आप जाकर अपने मन्दिर का काम करें। राजसभा में आपकी कोई आवश्यकता नहीं।'

रघुपति ने छत्र माणिक्य की ओर घूर कर देखा। छत्र माणिक्य कुछ अप्रतिभ हो मुँह फेरकर चले गये।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्र राय ने जिस दिन नगर में प्रवेश किया, केदारेश्वर उसी दिन उनसे भेंट करने गये किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी साक्षात्कार न हो सका। सैनिक और पहरेदारों ने उनको धक्के देकर, धमकाकर और झकझोर कर परेशान कर दिया। अन्त में वे जान लेकर भाग गये। गोविन्द माणिक्य के समय में वे राज-भोग से अत्यन्त संतुष्ट होकर महल में रहते थे। युवराज नक्षत्र राय के साथ विशेष प्रेम भी था। कुछ समय के पश्चात् राजमहल से विलग होकर उनके जीव-धारण की समस्या उत्पन्न हो गई। जब तक उस राजा की छत्रछाया थी तब तक सभी भयपूर्वक उनका सम्मान करते थे किन्तु इस समय कोई भी उन पर विशेष ध्यान नहीं देता। पहले राज-सभा में कुछ भी प्रयोजन होने पर लोग उनका हाथ-पैर पकड़ते पर अब रास्ते पर जाते समय कोई उनके साथ दो बातें करने का भी समय नहीं पाता। इसके अलावा फिर खाने का कष्ट आ पड़ा। ऐसी अवस्था में राजमहल में फिर एक बार प्रवेश कर सकने से उनको विशेष सुविधा होती। वे एक दिन अवसर पाकर कुछ भेंट लिये प्रकाश्य रूप में छत्र माणिक्य से भेंट करने गये। परम परितोष प्रकट करते हुए अत्यन्त स्वामिभक्ति एवं विनीत हास्य के साथ वे राजा के सम्मुख आ खड़े हुए।

छत्र माणिक्य ने कहा—'तुम क्या कहने आये हो ? जल्दी से कहकर चले जाओ।'

केदारेश्वर को क्या कहना था, यह याद न आया। बड़े कष्ट से मन-ही मन जो एक छोटा-सा भाषण उन्होंने गढ़कर तैयार किया था वह पेट में ही नष्ट हो गया।

अन्त में राजा ने जब कहा कि 'यदि तुमको कुछ कहना नहीं है तो चले जाओ' तब केदारेश्वर ने चटपट कुछ-न-कुछ कहना आवश्यक समझा।

सहसा आँख में, मुंह में और कण्ठ में प्रचुर परिमाण में करुण रस का संचार करके वे बोले—'महाराज ! क्या ध्रुव को भूल गये ?'

छत्र माणिक्य आगबबूला हो गये। मूर्ख केदारेश्वर ने कुछ भी न समझकर फिर कहा—'वह जो महाराज के लिए 'काका' 'काका' कहकर रोता हुआ विह्वल हो जाता है।'

छत्र माणिक्य ने कहा—'तुम्हारी स्पर्धा तो कम नहीं दिखाई पड़ती ? तुम्हारा भतीजा मुझे काका कहता है ? क्या तुमने उसको शिक्षा दी है ?'

केदारेश्वर ने अत्यन्त कातर हो हाथ जोड़कर कहा—'महाराज !'

छत्र माणिक्य ने पुकारा—'कोई है क्या ? इसे और उस लड़के को राज्य से निकाल तो दो।'

सहसा कन्धे पर इतने पहरेदारों का हाथ पड़ा कि केदारेश्वर तीर के समान एक बारगी बाहर आ पड़े। हाथ से उनकी डाली छीनकर पहरेदारों ने आपस में बाँट ली। ध्रुव को लेकर केदारेश्वर ने त्रिपुरा छोड़ दिया।

चालीसवाँ परिच्छेद

रघुपति फिर मन्दिर को लौट गये। जाकर देखा कि कोई प्रेम-पूर्ण हृदय वस्त्रादि लेकर उनकी राह नहीं देख रहा है। पत्थर का मन्दिर खड़ा है, उसमें कहीं हृदय का लेशमात्र भी नहीं। वे जाकर गोमती नदी के किनारे श्वेत पत्थर की सीढ़ी पर बैठ गये। सीढ़ी के किनारे स्वयं जयसिंह के हाथों से लगाये हरसिंगार के वृक्ष पर असंख्य फूल खिले हुए थे। उन

फूलों को देखकर जयसिंह का सुन्दर मुख, सरल हृदय, सरल जीवन एवं अत्यन्त सहज विशुद्ध उन्नत भाव स्पष्ट रूप से उनके मन में स्मरण आने लगा। सिंह के समान सबल, तेजस्वी एवं मृग-शावक की तरह सुकुमार जयसिंह रघुपति के हृदय में पूर्णतया प्रकट हो गये और उनके सम्पूर्ण हृदय पर अधिकार जमा लिया।

इसके पूर्व रघुपति अपने को जयसिंह के मुकाबले काफी बड़ा समझते पर अब जयसिंह उनको अपने मुकाबले बहुत बड़े मालूम पड़ने लगे। अपने प्रति जयसिंह की उस सरल भक्ति का स्मरण करके रघुपति के हृदय में उनके प्रति बहुत भक्ति उत्पन्न होती गई अपने प्रति तिरस्कार। जयसिंह के प्रति उन्होंने जो-जो अन्याय और तिरस्कार किये थे उनका स्मरण करके रघुपति का हृदय विदीर्ण हो गया। उन्होंने मन-ही-मन चाहा कि मैं जयसिंह की भर्त्सना करने का अधिकारी नहीं। यदि जयसिंह से एक बार क्षणभर के लिए भी भेंट हो जाती तो मैं अपनी हीनता स्वीकार करके उससे एक बार क्षमा-प्रार्थना करता। जयसिंह ने जैसा कहा वही किया—ये सारी बातें उनके मन में उठने लगीं। जयसिंह का समस्त जीवन पूर्णरूपेण उनके मन में मूर्तिमान हो उठा। वे इस प्रकार के एक महान चरित्र में आत्म-विस्मृत होकर सारा विवाद और विद्वेष भूल गये।

रघुपति उठकर वन में अधीरता-पूर्वक टहलने लगे। मन्दिर में भीतर वाला कलह, अचेतन एवं अकर्मण्य जड़-मूर्तियों के प्रति उनको घृणा उत्पन्न हो गई। जब कि हृदय वेग से उत्तेजित हो रहा था उस समय कितनी ही निरुद्यम, स्थूल पाषाण मूर्तियों का सर्वदा निरुद्यम सहचर होकर जीवन बिताना उनको बहुत तुच्छ मालूम होने लगा।

जब रात का दूसरा प्रहर हुआ, रघुपति ने चकमक पत्थर को रगड़कर एक दीपक जलाया। उन्होंने हाथ में दीपक लिये हुए चौदह देवताओं के मन्दिर में प्रवेश किया। जाकर देखा कि चौदहों देवता समान भाव से खड़े हैं। गत वर्ष आषाढ़ की काल-रात्रि के क्षीण दीयालोक में भक्त के मृत-शरीर के सम्मुख रक्त की धारा के बीच जिस प्रकार बुद्धिहीन एवं हृदयहीन रूप में वे थे, आज भी उसी प्रकार खड़े हैं। रघुपति चिल्ला उठे—'झूठी बात, सरासर झूठ। हा वत्स जयसिंह! अपने अमूल्य हृदय

के रक्त को किसे दे दिया? यहाँ कोई देवता नहीं; कोई देवता नहीं। पिशाच रघुपति ने ही वह रक्त पान किया था।

इतना कहकर रघुपति ने काली की मूर्ति को आसन से खींच कर मन्दिर के द्वार पर से खड़े होकर जोर से मूर्ति को दूर फेंक दिया। अन्धकार में पत्थर की सीढ़ी पर गिरकर वह मूर्ति शब्द करते हुए लुढ़कती लुढ़कती गोमती के जल में प्रविष्ट हो गई। अज्ञान-रूपिणी राक्षसी ने पत्थर का रूप धारण करके इतने दिनों तक रक्तपान किया था वही आज गोमती के गर्भ में सहस्रों पत्थरों के बीच अदृश्य हो गई किन्तु मनुष्य के कठोर हृदय ने कुछ भी परित्याग न किया। रघुपति दीपक बुझाकर बाहर मार्ग पर चले आये। उसी रात राजधानी छोड़कर वे चले भी गये।

इकतालीसवाँ परिच्छेद

नोआखाली के निजामतपुर में पुजारी बिल्वन कुछ दिनों से रहते थे। वहाँ पर भयङ्कर महामारी फैली हुई थी।

फागुन बीतते-बीतते दिन भर बादल घिरे रहा करते थे। बीच-बीच में कुछ वर्षा भी होती जाती थी। अन्त में सायंकाल तेज हवा भी चलने लगी। पहले पूर्व की ओर से हवा चल रही थी। रात के दूसरे पहर में उत्तर तथा उत्तर-पूर्व से बड़ी तेज आँधी आई। अन्त में मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो जाने से आँधी का वेग कुछ कम हो गया। इसी समय शोर मचा कि बाढ़ आ रही है। कोई घर के छप्पर पर चढ़ गया, कोई पुष्करिणी के कगारे के ऊपर जाकर खड़ा हो गया, कोई वृक्ष की शाखा पर और किसी ने मन्दिर के शिखर पर आश्रय लिया। अँधेरी रात, लगातार वर्षा। बाढ़ का गर्जन क्रमशः समीप आने लगा। आतंक के कारण गाँववालों को दिशा-भ्रम हो गया। इसी समय बाढ़ भी समीप आ पहुँची। एक-पर-एक दो बार लहरें भी आईं। दूसरी बार के बाद गाँव में लगभग आठ हाथ पानी चढ़ आया।

दूसरे दिन जब सूर्य निकला और पानी कुछ घटा तब देखा गया कि गाँव में कुछ ही मकान बच पाये थे पर उनमें आदमी न थे। दूसरे गाँवों

से मनुष्य, गाय-भैंस, बकरी एवं सियार कुत्तों के मृतक शरीर बहकर आ गये थे। सुपाड़ी के पेड़ भी टूट-टूटकर बह गये थे। केवल निचले के कुछ तने बाकी थे। बड़े-बड़े आम और कटहल के पेड़ जड़ से उखड़कर झुके पड़े थे। दूसरे गाँव के घरों के छप्पर बहकर दीवाल की शोक में मुँह के बल पृथ्वी पर पड़े थे। बहुत-सी हाँड़ी कलसी इधर-उधर बिखरी थीं। अधिकांश घर आम, कटहल और सेमर आदि बड़े-बड़े पेड़ों द्वारा ढँके थे इसी कारण बहुत-से लोग एकबारगी न डूबकर पेड़ पर अटके रहे, कोई तो रात भर बाढ़ के वेग से हिलाये हुए बाँस के समूहों में झूलता रहा, कोई सेमर के काँटों से क्षत-विक्षत था और कोई उखड़े हुए वृक्षों के साथ बह गया था।

पानी निकल जाने पर जीवित व्यक्ति उतरकर नीचे आये और मुर्दों के ढेर में घूम-घूमकर अपने सगे-सम्बन्धियों को ढूँढ़ने लगे। अधिकांश मुर्दे अपरिचित एवं दूसरे गाँवों से बह आये थे। किसी ने उनका सत्कार न किया। गिद्धों के झुण्ड ने उन मुर्दों को अपना आहार बनाया। सियार और कुत्तों के साथ उनका कोई झगड़ा न था, कारण सभी सियार कुत्ते भी मर चुके थे।

गाँव में बारह घर पठानों के थे। वे काफी ऊँची जमीन पर बसे थे इसी कारण बाढ़ से उनके गाँव को कोई हानि न पहुँची थी। बचे हुए लोगों में, जिसने जो घर पाया उसमें शरण ली और जिसने न पाया वह आश्रय खोजने के लिए दूसरी जगह चला गया। जो विदेश में थे उन्होंने अपने देश लौट कर नये-नये घर बनवाये। क्रमशः धीरे-धीरे फिर लोगों का बसना आरम्भ हो गया। बाढ़ में आये मुर्दों के कारण पुष्करिणी का जल भी दूषित हो चुका था। अन्यान्य अनेक कारणों से गाँव में महामारी फैली हुई थी।

महामारी सबसे पहले पठानों के गाँव में प्रारम्भ हुई। मुर्दों के कब्र देने अथवा परस्पर सेवा करने का अवसर किसी को न मिल सका। हिन्दुओं ने कहा कि मुसलमान गो-हत्या के पाप का फल भुगत रहे हैं। जातीय बैर तथा जाति-च्युत हो जाने के भय से किसी हिन्दू ने उन्हें पानी तक न दिया। किसी प्रकार की सहायता न की।

पुजारी बिल्वन जब गाँव में आये उस समय गाँव की दशा बड़ी दयनीय थी। बिल्वन को कई चेले मिल गये। वे सब महामारी के डर से भागने के प्रयत्न में थे। बिल्वन ने डराकर उन्हें रोका। वे लोग पठानों की सेवा करने लगे। उनको पथ्य, पानी औषध एवं उनके मुर्दों को कब्र देने लगे। हिन्दू लोग हिन्दू-संन्यासी के इस अनाचार को देखकर आश्चर्य-चकित हो गये।

बिल्वन ने कहा—'मैं संन्यासी हूँ, मेरी कोई जाति नहीं। मेरी जाति है मनुष्य। जब मनुष्य मर रहा है तो जाति कैसी? भगवान् द्वारा निर्मित मनुष्य जब मनुष्य का प्रेम चाहता है उस समय यह जाति कैसी?'

हिन्दू बिल्वन के अनासक्त परहितैषण को देखकर उनसे घृणा अथवा उनकी निन्दा करने का मानो साहस न कर सके। वे स्थिर न कर पाये कि बिल्वन का काम अच्छा था अथवा बुरा। उनके सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान ने संदिग्ध भाव से कहा—'ठीक नहीं' किन्तु उनके हृदय में जो मानवता छिपी थी उसने कहा—'ठीक है।' जो कुछ भी हो बिल्वन किसी के अच्छा अथवा बुरा कहने की ओर ध्यान न देकर काम करने लगे। मृत-प्राय पठान उनको देवता समझने लगे। वे पठानों के छोटे-छोटे लड़कों को महामारी से दूर रखने के लिए हिन्दुओं के पास ले गये। हिन्दू एकदम धर्म-संकट में पड़ गये। किसी ने उन्हें आश्रय न दिया। तब बिल्वन ने एक बड़े भग्न मन्दिर में आश्रय लिया और लड़कों के झुण्ड को वहीं रक्खा।

प्रातःकाल उठकर वे उन लड़कों के लिए भीख माँगने बाहर निकले किन्तु भिक्षा कौन देता? देश में अन्न कहाँ था? भूख के कारण कितने ही लोग मरणासन्न हो रहे थे। गाँव के मुसलमान जमींदार बहुत दूर रहते थे, बिल्वन उनके पास तक जा पहुँचे। बड़ी मुश्किल से उन्हें राजी करके वे ढाका से चावल मँगाने लगे। वे रोगियों की सेवा करते और उनके चेले चावल बाँटते। बीच-बीच में बिल्वन जाकर लड़कों के साथ खेलते। लड़के उनको देखकर खूब शोर मचाते।

अन्त में महामारी मुसलमानों के गाँव को छोड़कर हिन्दुओं के गाँव में आ गई। गाँव में एक प्रकार से अराजकता फैल गई। चोरी डकैती का

अन्त नहीं, जो जिसे पाता लूट लेता। मुसलमानों ने गोल बनाकर डकैती आरम्भ कर दी। वे बीमारों को बिस्तर से उठाकर फेंक देते और चौकी, चटाई तथा बिस्तर जो पाते लूट ले जाते। बिल्वन जी जान से उनको रोकने लगे। बिल्वन की बात को वे बहुत मानते, वे उनकी बातों का उल्लंघन करने का साहस न करते थे। इस प्रकार बिल्वन ने यथासाध्य गाँव के अशान्ति की रक्षा की।

एक दिन सबेरे बिल्वन के एक चेले ने आकर उनको समाचार दिया कि एक लड़के को साथ लिये एक परदेशी गाँव के पीपल के नीचे पड़ा है। उसे महामारी हो गई है। समझता हूँ अब वह न बचेगा। बिल्वन ने जाकर देखा कि केदारेश्वर बेहोश पड़े थे, ध्रुव धूल में सोया पड़ा था। केदारेश्वर मरणासन्न थे। रास्ते के कष्ट तथा अनाहार से वे दुर्बल हो गये थे। इसी कारण बीमारी ने बल-पूर्वक उन पर आक्रमण कर दिया। किसी भी दवा का कोई फल न हुआ। उसी वृक्ष के नीचे उनकी मृत्यु हो गई। ध्रुव को देखकर जान पड़ता था मानो बहुत देर तक भोजन न मिलने से भूख के कारण रो-रोकर वह सो गया था। बिल्वन बड़ी सावधानी से उसको गोद में उठाकर अपने शिशु-आलय में ले गये।

बयालीसवाँ परिच्छेद

इस समय चट्टग्राम आराकान के अधीन था। आराकान के राजा ने जब सुना कि गोविन्द माणिक्य निर्वासित रूप में चट्टग्राम आये हुए हैं, तब उन्होंने बड़े सम्मान-पूर्वक उनके पास एक दूत भेजा। और साथ ही कहला भेजा कि यदि सिंहासन पर अधिकार करना चाहें तो आराकान के राजा उनकी सहायता कर सकते हैं।

गोविन्द माणिक्य ने कहा—'नहीं, मैं सिंहासन नहीं चाहता।'

दूत बोला—'तब आराकान राज-सभा में पूज्य अतिथि होकर महाराज कुछ दिनों निवास करें।'

राजा ने फिर कहा—'मैं राज-सभा में न रहूँगा। चट्टग्राम के किसी कोने में स्थान मिल जाने से मैं आराकान राज्य का ऋणी होकर रहूँगा।'

दूत ने उत्तर दिया—'महाराज, जहाँ चाहें निवास कर सकते हैं, इसे

आप अपना ही राज्य समझें।'

आराकान राज्य के कितने ही सेवक राजा के साथ रह गये। गोविन्द माणिक्य ने उनको मना न किया। उन्होंने सोचा कि हो सकता है आराकान के राजा उन पर सन्देह करके उनके पास लोगों को रखने की इच्छा किये हों।'

मयानी नदी के तट पर महाराज ने अपनी कुटी बनाई। स्वच्छ जलवाली छोटी नदी छोटे-बड़े पत्थरों के ऊपर से होकर तेजी से बह रही थी। दोनों किनारों पर काले पहाड़ खड़े थे। काले पत्थरों पर विचित्र वर्णों के शैवाल लटक रहे थे। बीच-बीच में छोटे-छोटे गह्वर थे। उनमें पक्षी निवास करते थे। स्थान-स्थान पर दोनों ओर के पहाड़ इतने ऊँचे थे कि बड़ी देर के बाद सूर्य की दो-एक किरणें नदी के जल में आकर पड़ती थीं। बड़े-बड़े गुल्म विविध आकार के पत्तों को फैलाकर पहाड़ के शरीर पर झूल रहे थे। बीच-बीच में नदी के किनारों पर घने जङ्गलों की पंक्तियाँ बड़ी दूर तक चली गई थीं। एक बहुत बड़ा शाखाहीन सफेद गर्जनवृक्ष (मत्तद्र) पहाड़ के ऊपर झुका था। नीचे नदी के चंचल जल में उसकी छाया नाच रही थी और बड़ी-बड़ी लतायें उसको ढँककर लटकी हुई थीं। घने हरे जङ्गल के बीच-बीच में स्वच्छ एवं श्यामल केले के वन थे। बीच-बीच में दोनों किनारों को काटकर छोटे-छोटे स्रोते बालकों की तरह आकुलतापूर्वक हाथ फैलाये, चंचल आवेग एवं किलकारी-युक्त हँसी लिये नदी में आकर गिर रहे थे। नदी कुछ दूर तक सीधे जाकर स्थान-स्थान पर ऊँचे-नीचे पत्थरों पर बहती हुई फेनयुक्त होकर नीचे की ओर गिर रही थी। वे ही झर-झर शब्द लगातार निस्तब्ध पहाड़ की दीवालों से टकराकर प्रतिध्वनित हो रहे थे।

इसी छायायुक्त शीतल प्रवाह के स्निग्ध झरझर शब्दों के बीच स्तब्ध पहाड़ की तलहटी में गोविन्द माणिक्य निवास करने लगे। हृदय को विस्तृत करके भीतर शान्ति संचय करने लगे। निर्जन प्रकृति का सांत्वनामय गम्भीर प्रेम अनेकानेक दिशाओं से आकर सहस्रों निर्झरों की तरह उनके हृदय में प्रवाहित होने लगा। वे अपने हृदय की गुहा में प्रवेश करके उस स्थान से क्षुद्र अभिमान को भली-भाँति धोकर फेंकने लगे—द्वार को

खोलकर अपने भीतर विमल आलोक तथा वायु का प्रवाह ग्रहण करने लगे। 'किसने उनको दुःख दिया था, किसने कष्ट दिया था, कौन उनके स्नेह का विनिमय नहीं देता, किसने एक हाथ द्वारा उनसे उपकार प्राप्त करके दूसरे हाथ से कृतघ्नता दी, किसने उनके द्वारा सम्मानित होकर उनका ही अपमान किया'—ये सारी बातें वे भूल गये। इसी पहाड़ पर निवास करने वाली अत्यन्त पुरातन प्रकृति की कार्यशीलता फिर भी चिरनिश्चिन्त प्रशान्त नवीनता को देखकर वे मानो स्वयं उसी प्रकार पुरातन, उसी प्रकार वृहत् और उसी प्रकार प्रशान्त हो गये। उन्होंने मानो दूर तक विस्तृत संसार में अपने कामनाशून्य स्नेह को फैला दिया—सारी वासनाओं को दूर करके बोले—'हे ईश्वर! पतनोन्मुख ऐश्वर्य के शिखर से अपनी गोद में धारण करके तुमने मेरी इस यात्रा की रक्षा की है। मैं मरणोन्मुख था, लेकिन बच गया। मैं जब राजा हुआ था उस समय अपना महत्व न समझता था। आज मैं सर्व जगद्मय अपने महत्व का अनुभव कर रहा हूँ।

अन्ततः दोनों नेत्रों से आँसू बहने लगे। बोले—'महाराज! तुमने मेरे स्नेही ध्रुव को छीन लिया, वह वेदना अब भी हृदय से पूरी तरह नहीं मिट पा रही है। आज मैं समझ रहा हूँ कि तुमने अच्छा ही किया। मैं उस बालक के प्रति अत्यन्त स्वार्थ युक्त स्नेह में अपने कर्त्तव्यों तथा अपने जीवन को विसर्जन कर रहा था। तुमने विपत्ति से मेरी रक्षा की। मैंने ध्रुव को अपने सम्पूर्ण पुण्य का पुरस्कार समझकर ग्रहण किया था, पर तुमने विरत करके शिक्षा दी कि—'पुण्य का पुरस्कार है पुण्य।' इसी से आज मुझे उस ध्रुव के पवित्र विरह-दुःख को सुख समझकर—तुम्हारे प्रसाद रूप में अनुभव करता हूँ। मैं वेतन लेकर नौकर के सरीखे कार्य न करूँगा प्रभु! मैं तुम्हारे प्रेम के वश में होकर तुम्हारी सेवा करूँगा।'

गोविन्द माणिक्य ने देखा कि एकान्त में ध्यानमग्न प्रकृति जो स्नेह धारा संचित कर रही है, उसे वह स्वयं नगरों में नदी रूप में प्रवाहित करती है। जो उसे ग्रहण करते हैं उनकी तृष्णा मिट जाती है और जो ग्रहण नहीं करते उनके प्रति भी प्रकृति का कोई शेष नहीं। गोविन्द माणिक्य ने कहा—'मैं भी इस निर्जन स्थान पर संचित प्रेम को जनयुक्त

स्थान पर वितरण करने निकलूँगा।' इतना कहकर वे पर्वतीय-कुटी को छोड़कर बाहर निकल पड़े।

सहसा राजत्व छोड़कर उदासीन हो जाना लिखने में जितना सरल जान पड़ता है वास्तव में वैसा है नहीं। राजवेष छोड़कर गेरुआ वस्त्र पहनना मामूली बात नहीं। वरन् राज्य छोड़ना आसान है किन्तु हम अपने जन्म की छोटी-छोटी आदतों को अनायास ही छोड़ देने में समर्थ नहीं होते। वे उसे अधिक क्षुधा-तृषा लेकर हमारे अस्थिमांस में लिप्त हैं। उनके लिए नियमित आहार की व्यवस्था न करने से वे हमारा रक्त-शोषण करके रहती हैं। कोई मानो ऐसा न समझ ले कि गोविन्द माणिक्य जितने दिन अपनी निर्जन कुटी में निवास करते रहे उतने दिन केवल अविचलित चित्त से एक स्तम्भ की तरह स्थिर रहे। वे पग-पग पर अपनी हजारों छोटी-छोटी आदतों से युद्ध करते रहे। जब भी किसी अभाव में उनका हृदय कातर हो उठता तभी वे उसको धिक्कारते। वे अपने हृदय की सहस्रमुखी क्षुधा को कुछ भी भोजन न देकर उसका विनाश कर रहे थे। पग-पग पर इन्हीं सैकड़ों अभावों के ऊपर विजयी होकर वे सुख पा रहे थे। जिस प्रकार दुष्ट घोड़े को तेजी से दौड़ाकर शान्त कर दिया जाता है उसी प्रकार वे अपने अभाव कातर अशान्त हृदय को अभाव की मरुभूमि में लगातार दौड़ाकर शान्त कर रहे थे। बहुत दिनों तक क्षण भर भी उन्हें विश्राम न मिला।

पर्वतीय प्रदेश को छोड़कर गोविन्द माणिक्य दक्षिण में समुद्र की ओर चलने लगे। सारी वासनायुक्त वस्तुओं को छोड़कर वे अपने हृदय में एक आश्चर्ययुक्त स्वाधीनता का अनुभव करने लगे। कोई उन्हें और नहीं बाँध सकता, अग्रसर होने के समय कोई उन्हें और बाधा नहीं दे सकता। उन्होंने प्रकृति को बहुत बड़े रूप में देखा और अपने को भी उसके साथ एकाकार समझने लगे। वे वृक्ष-लताओं का एक नवीन श्यामल रंग, सूर्य की एक नवीन सुनहरी किरण, प्रकृति की एक नई मुख-शोभा देखने लगे। गाँव में जाकर मनुष्य के प्रत्येक कार्य में वे एक नई सुन्दरता देखने लगे। मनुष्य की हँसी, बातचीत, उठने-बैठने, चलने-फिरने में वे एक अपूर्व नृत्य-गीत की मधुरता का आभास पाते।

जिसको देखा उसी को समीप बुलाकर बातचीत करके सुख पाया।

जो उनकी उपेक्षा करता इससे भी उनका हृदय दूर न रहता। सर्वत्र दुर्बल की सहायता करने एवं दुःखी को सान्त्वना देने को जी चाहने लगा। उनके मन में आने लगा कि—'मैंने अपने सारे बल एवं सारे सुख को दूसरों के लिए उत्सर्ग किया क्योंकि किसी से मेरा अपना कोई प्रयोजन नहीं, कोई स्वार्थ नहीं। साधारणतया जो दृश्य किसी को भी दिखाई न पड़ते वे नया आकार धारण करके उनको दिखाई देने लगे। जब दो लड़कों को रास्ते में बैठकर खेलते हुए देखते—दो भाई को, पिता पुत्र को, माता और बालक को एकत्र देखते, चाहे वे धूल से भरे हों, दरिद्र हों अथवा कुरूप हों वे उनमें दूर-दूर तक विस्तृत मानव हृदयरूपी समुद्र के अत्यन्त गम्भीर प्रेम को देख पाते। गोद में बालक को लिये हुए एक माता में वे मानो अतीत और भविष्य के सभी मानव-शिशु की जननी का दर्शन करते। दो भाइयों को एकत्र देखते ही वे समस्त मानव जाति के बन्धु-प्रेम में सहायक होने का अनुभव करते। पहले जो पृथ्वी बीच-बीच में मातृहीन जान पड़ती उसी पृथ्वी को आनतनयना चिर-जाग्रत माता की गोद में देख पाते। पृथ्वी के दुःख, शोक, दारिद्र्य, विवाद एवं विद्वेष को देखकर भी उनके मन में और निराशा उत्पन्न न होती। एक मात्र मङ्गल-चिह्न को देखते ही उनकी आशा हजारों अमङ्गलों को भेदकर स्वर्ग की ओर उन्मुख हो उठती। हम सभी के जीवन में कभी एक ऐसा अभूतपूर्व नूतन प्रेम और नूतन स्वाधीनता का प्रभाव उदित न हुआ जिस दिन सहसा इस दुःखपूर्ण संसार को एक सुकोमल नवजात शिशु की तरह एक अपूर्व सौन्दर्य प्रेम तथा मङ्गलमय गोद में विकसित देखा था, जिस दिन कोई हम लोगों को किसी सुख से वञ्चित न कर सका, किसी चहारदिवारी के भीतर बन्द करके न रख सका, जिस दिन एक अपूर्व वंशी बज उठी, एक अपूर्व बसन्त आ जाय, सारा संसार चिर-यौवन के आनन्द से परिपूर्ण हो जाय, जिस दिन सारे दुःख, दारिद्र्य एवं विपत्ति की कुछ भी परवाह न हो। नूतन स्वाधीनता के आनन्द में विस्तृत हृदय गोविन्द माणिक्य के जीवन में वही दिन आ गया।

चट्टग्राम के दक्षिण में रामूनगर अब भी दस कोस दूर था। सन्ध्या से कुछ पहले जब गोविन्द माणिक्य आलमखाल नामक एक छोटे गाँव में जा पहुँचे, उस समय गाँव के किनारे स्थित एक कुटी से एक क्षीणकण्ठ

बालक के रोने की ध्वनि सुनाई पड़ी। गोविन्द माणिक्य का हृदय सहसा चञ्चल हो उठा। वे उसी क्षण कुटी में जा पहुँचे और देखा कि कुटी का स्वामी एक युवक दुबले पतले बालक को लिये कमरे में टहल रहा था। बालक थरथर काँप रहा था तथा रह रहकर दबे गले से रो रहा था। कुटी का स्वामी उसको सीने से चिपकाकर सुलाने की चेष्टा कर रहा था।

संन्यासी वेषधारी गोविन्द माणिक्य को देखकर वह चञ्चल हो उठा। कातर स्वर में बोला—'महाराज! इसको आशीर्वाद दो।' गोविन्द माणिक्य ने अपना कम्बल उतारकर बालक के चारों ओर लपेट दिया। बालक ने एक बार केवल अपने दुर्बल मुख को उठाकर गोविन्द माणिक्य की ओर देखा। उसकी आँखों के नीचे कालिमा छा गई थी। उसके सूखे हुए चेहरे पर मानो दो आँखों को छोड़ और कुछ भी न था। एक बार गोविन्द माणिक्य को देखते ही अपने दोनों पीले ओठों को हिलाकर उसने एक क्षीण और अस्पष्ट ध्वनि की। फिर उसी समय अपने पिता के कन्धे पर मुख रखकर चुपचाप पड़ रहा। उसके पिता ने उसको कम्बल सहित पृथ्वी पर रखकर राजा को प्रणाम किया तथा राजा की चरणरज को लेकर लड़के के शरीर एवं मस्तक पर लगाया।

राजा ने लड़के को उठाकर पूछा—'बालक के पिता का क्या नाम है?'

कुटी के स्वामी ने कहा—'मैं ही इसका पिता हूँ। मेरा नाम यादव है। भगवान् ने एक-एक करके मेरे सभी लोगों को छीन लिया केवल यही अभी बाकी है।' इतना कहकर उसने एक लम्बी साँस छोड़ी।

राजा ने कुटी के स्वामी से कहा—'आज रात यहाँ मैं तुम्हारा अतिथि हूँ। मैं कुछ खाऊँगा नहीं अतएव मेरे लिए भोजनादि का प्रबन्ध न करना होगा। यहाँ केवल रात बिताऊँगा।'

इतना कहकर राजा उस रात वहीं रहे। अनुचर गाँव में एक धनी कायस्थ के घर मेहमान हुए। धीरे-धीरे सन्ध्या हो गई। पास में एक काईयुक्त तालाब था। उसके ऊपर से भाप उठने लगी। गोशाला से पुआल और सूखे पत्तों के जलने के कारण उठा हुआ घना धुआँ ऊपर न उठ पाता था, दबकर सामने फैले हुए जलयुक्त मैदान को ढक लिये था। नागफनी के घेरे के समीप से झींगुर कर्कश स्वर में बोलने लगे। हवा

एकदम रुक गई, पेड़ का पत्ता तक न हिल रहा था। क्षीण प्रकाश में गोविन्द माणिक्य उस बीमार बच्चे के विवर्ण एवं क्षीण मुख को देखने लगे। वे उसको भली भाँति कम्बल से ढक कर उसकी खाट के पास बैठकर, उसे अनेक प्रकार की कहानियाँ सुनाने लगे। सन्ध्या बीत गई और दूर पर सियार बोल उठे। बालक कहानी सुनते-सुनते रोग के कष्ट को भूलकर सो गया। राजा भी उसके बगल वाले कमरे में जा कर सोये। रातभर उनको नींद न आई, केवल ध्रुव की याद आने लगी। राजा ने कहा—ध्रुव को खोकर सभी लड़के ही ध्रुव से जान पड़ते हैं।'

कुछ रात बीतने पर उन्होंने सुना कि बगलवाले कमरे में बालक जाग कर अपने पिता से पूछ रहा था—'बाबा! वह क्या बज रहा है?'

'बाँसुरी बज रही है।'

'बाँसुरी क्यों बज रही है?'

'कल पूजा जो है, मेरे लाल!'

'कल पूजा है, पूजा के दिन मुझे कुछ दोगे नहीं?'

'क्या दूँगा, राजा!'

'मुझे एक लाल शाल दोगे न?'

'मैं शाल कहाँ पाऊँगा? मेरे पास तो कुछ नहीं है मेरे लाल!'

'तुम्हारे पास कुछ नहीं है, बाबा!'

'कुछ नहीं मेरे लाल! केवल तुम्हीं हो।'

भग्न-हृदय पिता का गम्भीर निःश्वास बगल के कमरे में सुनाई पड़ा।

बालक ने और कुछ न कहा। जान पड़ा पिता से चिपककर फिर सो गया।

रात बीतते-बीतते गोविन्द माणिक्य गृह-स्वामी से बिना विदा लिये ही घोड़े पर चढ़कर रामूनगर की ओर चले गये, न खाना खाया न विश्राम किया। रास्ते में एक छोटी नदी थी। घोड़े सहित उसको पार किया। तेज धूप निकल चुकी थी, तब वे रामूनगर में पहुँचे। वहाँ अधिक देर न की। फिर सन्ध्या के कुछ पहले ही वह यादव की कुटी पर लौट आये। यादव को आड़ में ले गये। अपने झोले से एक लाला शाल निकालकर यादव के हाथ में देकर बोले—'आज पूजा के दिन यह शाल अपने लड़के को दे दो।'

यादव ने रोकर गोविन्द माणिक्य का पैर पकड़ लिया। बोले—'प्रभु तुम्हीं लाये हो, तुम्हीं दो।'

राजा ने कहा—'नहीं, मैं न दूँगा, तुम दो। मेरे देने से कोई लाभ नहीं। मेरा नाम तक मत बताना। मैं केवल तुम्हारे लड़के के मुख पर प्रसन्नता की हँसी देखकर चला जाऊँगा।'

बीमार बालक के अत्यन्त दुबले एवं मलिन मुख को प्रफुल्लित देखकर राजा चले गये। राजा ने दुःखित होकर अपने मन में कहा—'मैं कोई काम नहीं कर पाता हूँ। मैंने कुछ वर्षों तक केवल राज्य ही किया है, कुछ सीखा नहीं। 'क्या करने से एक छोटे बालक के रोग का कष्ट दूर हो जायगा'—उसे नहीं जानता! मैं केवल असहाय और अकर्मण्य होकर शोक ही करना जानता हूँ। यदि पुजारी बिल्वन होते तो इनका कुछ भला करते। कहीं मैं पुजारी बिल्वन की तरह होता!'

उन्होंने फिर अपने आप कहा—'मैं अब इधर-उधर न भटकूँगा। नगर में रहकर ही काम करना सीखूँगा।'

रामूनगर के दक्षिण में राजकुल के समीप मगों का जो दुर्ग था उसी में वे आराकान राज्य की अनुमति लेकर रहने लगे।

गाँववालों के जितने भी बाल-बच्चे थे दुर्ग में गोविन्द माणिक्य के पास आ इकट्ठे हुए। गोविन्द माणिक्य ने उसको लेकर एक बड़ी पाठ-शाला खोल दी। वे उनको पढ़ाते, उनके साथ खेलते, उनके घर जाकर उनके साथ रहते और बीमार पड़ने पर उनको देखने जाते। 'वे बालक साधारणतः एकदम स्वर्ग से उतर कर आये थे और देवताओं की सन्तान थे।' ऐसी बात न थी। उनके भीतर मानव एवं दानव भावों का कुछ भी असमञ्जस न था। स्वार्थपरता, क्रोध, लोभ, द्वेष, हिंसा उनके भीतर पूर्णतया बलवती थी। 'इसके ऊपर फिर घर में माता-पिता द्वारा सभी समय अच्छी शिक्षा पाते'—ऐसी भी बात न थी। इसी कारण मगों के दुर्ग में मगों का राज्य हो गया। केवल बीच-बीच में कभी-कभी हतोत्साहित होकर दुःख करते कि—'मैं अपना कार्य निपुणता-पूर्वक पूरा नहीं कर पा रहा हूँ। बिल्वन रहते तो ठीक होता।'

इसी प्रकार गोविन्द माणिक्य सैकड़ों ध्रुव को लेकर अपना समय बिताने लगे।

तैंतालीसवाँ परिच्छेद

(स्टुअर्ट कृत बङ्गाल के इतिहास से उद्धृत)

इधर शाह शुजा अपने भाई औरङ्गजेब की सेना द्वारा खदेड़ा गया भाग चुका था। इलाहाबाद के समीप उसकी हार हुई। विपक्षी द्वारा पराजित एवं इस विपत्ति के समय शुजा अपने पक्ष वालों पर भी विश्वास न कर पाता था। वह अपमानित, डरा हुआ, वेष बदले साधारण मनुष्य की तरह अकेले ही भागने लगा। जहाँ जाता पीछे-पीछे शत्रु सेना धूलिध्वजा और घोड़ों के टापों की आवाज उसका पीछा करने लगती। अन्त में पटना पहुँचकर उसने फिर नवाब के वेष में अपने परिवार और प्रजा को अपने आने की खबर दी। वह जैसे ही पटना पहुँचा, उसके कुछ देर बाद ही औरङ्गजेब का लड़का कुमार मुहम्मद सेना के साथ पटना नगर के द्वार पर आ पहुँचा। शुजा पटना छोड़कर मुंगेर की ओर भागा।

मुंगेर में उसकी बिखरी हुई सेनायें थोड़-थोड़ी करके उसके समीप आ जुटीं तथा वहाँ उसने नई सेना भी एकत्रित की। तेरियागढ़ी और शिकलीगली के दुर्गों का पुनरुद्धार करके एवं नदी के किनारे पहाड़ के ऊपर चहारदिवारी बनाकर वह दृढ़ होकर रहने लगा।

इधर औरङ्गजेब ने अपने सबसे योग्य सेनापति मीर जुमला को कुमार मुहम्मद की सहायता के लिए भेजा। कुमार मुहम्मद ने खुले आम मुंगेर के किले के समीप आकर शिविर लगाया तथा मीर जुमला दूसरे मार्ग से छिपकर मुंगेर की ओर चला। जब शुजा कुमार मुहम्मद के साथ छोटे-मोटे युद्ध में लगा था, उसी समय सहसा समाचार मिला कि मीर जुमला बहुत बड़ी सेना लेकर बसन्तपुर में आ पहुँचा। शुजा घबड़ाकर उसी क्षण अपनी सारी सेना लेकर मुंगेर छोड़ राजमहल को भाग गया। वहीं उसका पूरा परिवार रहता था। सम्राट् की सेना ने तुरन्त वहाँ भी उसका पीछा किया। शुजा ने छः दिन तक जी-जान से युद्ध करके शत्रु सेना को आगे न बढ़ने दिया, किन्तु जब देखा कि अब रक्षा न हो सकेगी तब एक दिन अँधेरी आँधी वाली रात को अपने परिवार और यथा सम्भव रुपया पैसा लेकर नदी पार करके तोयडा को भाग गया एवं शीघ्र ही उस स्थान के

किले का पुनरुद्धार करने में लग गया।

उसी समय बरसात आ गई और रास्ता दुर्गम हो गया। सम्राट् की सेना आगे न बढ़ पाई।

इस युद्ध के पूर्व कुमार मुहम्मद के साथ शुजा की लड़की का विवाह एकदम पक्का हो चुका था किन्तु इस युद्ध के उपद्रव में वह प्रस्ताव दोनों पक्षों को भूल गया।

बरसात में जब युद्ध स्थगित था तथा मीर जुमला राजमहल से कुछ दूर अपना शिविर ले गया तब शुजा के एक सैनिक ने तोण्डा के शिविर से आकर चुपके से कुमार मुहम्मद के हाथ में एक पत्र दिया। कुमार ने खोलकर देखा, शुजा की लड़की ने लिखा था—'कुमार! क्या मेरी किस्मत में यही बदा था? जिसको मन ही मन पति मानकर मैंने अपना दिल दे दिया, जिसने अँगूठी बदलकर मुझको ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की, वही आज कठोर तलवार हाथ में लिये मेरे पिता का प्राण लेने आये हैं? क्या यही मुझे देखना पड़ेगा? कुमार! क्या यही हम लोगों का विवाहोत्सव है? क्या आज हम लोगों का राजमहल रक्तवर्ण है? इसीलिए कुमार दिल्ली से लोहे की जञ्जीर लेकर आये हैं? यही क्या प्रेम की शृङ्खला है?'

इस पत्र को पढ़कर सहसा प्रबल भूकम्प की तरह कुमार मुहम्मद का हृदय विदीर्ण हो गया। वे एक क्षण और स्थिर न रह सके। उस क्षण से साम्राज्य की आशा, बादशाह के अनुग्रह आदि सभी को वे तुच्छ समझने लगे। प्रथम यौवन की प्रज्ज्वलित अग्नि में उन्होंने हानि लाभ का सम्पूर्ण विचार भुला दिया। अपने पिता के सभी कार्य उनको अत्यन्त अन्यायपूर्ण और निष्ठुर मालूम पड़ने लगे। पिता की षड्यन्त्र से भरी हुई निष्ठुर नीति के विरुद्ध वे इसके पूर्व भी उनके सामने ही अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते और कभी कभी वे सम्राट् के कोप भाजन भी बनते। आज वे अपने सेना नायकों में से कई प्रमुख व्यक्तियों को बुलाकर सम्राट् की निष्ठुरता, कपटता और अत्याचार के बारे में बताकर बोले—' मैं तोण्डा में अपने चाचा का साथ देने जाऊँगा। तुम लोगों में जो मुझे चाहते हों वे मेरे साथ आयें।' उन्होंने लम्बी सलामी दागकर उसी क्षण कहा—'शाहजादा

ने जो कुछ कहा यथार्थ है, कल ही देखेंगे कि काफी सेनायें तोयडा के शिविर में शाहजादा से मिल जायेंगी। मुहम्मद उसी दिन नदी पार होकर शुजा के शिविर में पहुँच गये।

तोयडा के शिविर में प्रसन्नता छा गई। युद्धादि की सारी बातें एक बारगी भूल गईं। इतने दिनों तक केवल पुरुष ही व्यस्त थे, इस समय शुजा के परिवार में स्त्रियों के हाथों में काम का अन्त न रहा। शुजा ने अत्यन्त स्नेह और आनन्द के साथ मुहम्मद का स्वागत किया। लगातार खून-खराबी के बाद मानो रक्त का खिंचाव और भी बढ़ गया। नाच-गाना और बाजे के साथ विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। नाच-गाना समाप्त होते न होते ही समाचार मिला कि सम्राट् की सेना समीप आ पहुँची।

जैसे ही मुहम्मद शुजा के शिविर में गये वैसे ही सैनिकों ने मीर जुमला के पास खबर भेज दी। सेना की एक टुकड़ी ने भी मुहम्मद का साथ न दिया। उन्होंने समझ लिया था कि—'मुहम्मद ने जान-बूझकर अपने को विपत्ति के सागर में झोंका है। वहाँ पर उनके दल का होकर जाना पागलपन है।'

शुजा और मुहम्मद का ऐसा विश्वास था कि सम्राट् की सेना में अधिकांश युद्ध-क्षेत्र में कुमार मुहम्मद का साथ देंगे। इसी आशा से मुहम्मद ने अपना झण्डा फहराकर युद्ध-क्षेत्र में पदार्पण किया। सम्राट् की सेना का एक बड़ा दल मुहम्मद की ओर चला। मुहम्मद की सेना पर गोलों की वर्षा की। तब जाकर मुहम्मद ने सारी स्थिति को समझा, किन्तु अब समय न था। सेनायें भागने को तैयार हो गईं। शुजा का सबसे बड़ा लड़का लड़ाई में मारा गया।

उसी रात हतभाग्य शुजा और उसका दामाद दोनों परिवार सहित तेज नाव पर चढ़कर ढाका की ओर भागे। मीर जुमला ने ढाका तक शुजा का पीछा करना उचित न समझा। वह जीते हुए देशों में एक-सूत्रता स्थापित करने में लग गया।

दुर्दशा के दिनों, विपत्ति के समय जब मन प्राण एक-एक करके विमुख होने लगे उस समय मुहम्मद के धन प्राण और मान को तुच्छ समझ कर शुजा का पक्ष लेने से उनका हृदय विचलित हो गया। वह प्राणों

से भी बढ़कर मुहम्मद को प्यार करता था। इसी समय ढाका नगर में औरङ्गजेब का एक पत्रवाहक खुफिया पकड़ा गया। शुजा के हाथ में वह पत्र पड़ गया। औरङ्गजेब ने मुहम्मद को लिखा था—'परम प्रिय पुत्र मुहम्मद ! तुम अपने यश में कलंक लगा रहे हो, स्त्री के छलनामय हास्य पर मुग्ध होकर अपने धर्म को छोड़ दिया है। भविष्य में सारे मुगल साम्राज्य का शाशन-भार जिसके हाथ में होता वही आज एक स्त्री का दास हो गया है ! जो भी हो, ईश्वर की शपथ लेकर जब मुहम्मद ने पश्चात्ताप किया है तब मैंने उसे क्षमा कर दिया, किन्तु जिस काम के लिए गया है उस काम को पूरा करके आने पर वह मेरी कृपा का अधिकारी होगा।'

शुजा इस पत्र को पढ़कर वज्राहत-सा हो गया। मुहम्मद ने बार-बार कहा कि—'मैंने किसी भी प्रकार पिता के सामने पश्चात्ताप नहीं किया है। यह सब मेरे पिता की चालाकी है।' किन्तु शुजा का सन्देह दूर न हुआ। शुजा तीन दिन तक विचार करता रहा अन्त में चौथे दिन बोला—'वत्स ! हम लोगों का विश्वास-बन्धन शिथिल हो गया है। अतएव मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम अपनी स्त्री को लेकर चले जाओ नहीं तो मेरे मन में शान्ति न रहेगी। मैंने राज-कोष का द्वार खोल दिया है, श्वसुर के उपहार-स्वरूप जितनी इच्छा हो धन और रत्न ले जाओ।'

मुहम्मद ने आँसू बहाते हुए विदा ली, उसकी स्त्री भी उसके साथ चली गई।

शुजा ने कहा—'अब युद्ध न करूँगा। चट्टग्राम के बन्दरगाह से जहाज लेकर मक्का चला जाऊँगा।' इतना कहकर ढाका छोड़ भेष बदल कर वह चला गया।

चवालीसवाँ परिच्छेद

एक दिन वर्षाकालीन दोपहर के बाद एक फकीर, तीन बालक और एक अधेड़ व्यक्ति गठरी-मोटरी लिये, उसी मार्ग पर जा रहा था जिस पर स्थित दुर्ग में गोविन्द माणिक्य रहते थे। बालक बहुत ही थके हुए जान पड़ते थे। हवा तेज चल रही थी और वर्षा भी लगातार हो रही थी। सबसे छोटे बालक की अवस्था चौदह से अधिक न रही होगी। वह जाड़े

से काँपता हुआ कातर स्वर में बोला—'पिताजी, अब नहीं चला जाता।' इतना कहकर वह अधीरता-पूर्वक रोने लगा।

फकीर ने बिना कुछ कहे ही एक निःश्वास छोड़ी और उस बालक को अपने हृदय के समीप खींच लिया।

बड़े लड़के ने छोटे को कोसते हुए कहा—'रास्ते में इस प्रकार रोने से क्या लाभ? चुप रह, अकारण पिता को दुःखी न कर।'

छोटे लड़के ने रुलाई को दबाकर सिसकना आरम्भ कर दिया।

मझले लड़के ने पूछा—'पिताजी! हम लोग कहाँ चल रहे हैं?'

फकीर बोला—'जिस दुर्ग का वह शिखर दिखाई पड़ रहा है, उसी दुर्ग में चल रहे हैं।'

'वहाँ कौन है पिताजी?'

'सुना है कहीं के राजा संन्यासी होकर वहाँ रहते हैं।'

'राजा संन्यासी क्यों होंगे पिता जी?'

'मालूम नहीं बेटा! ऐसा सुना जाता है कि उनके सगे भाई ने सेना लेकर उनको गाँव के कुत्ते की तरह देश से निकाल दिया है—राज्य तथा सुख-ऐश्वर्य से च्युत कर उन्हें राह पर ढकेल दिया है। हो सकता है, इस समय दरिद्रता का अन्धकार रूप क्षुद्र गह्वर और संन्यासी का गेरुआ वस्त्र ही, इस पृथ्वी पर उनके लिए छिपने का एकमात्र स्थान हो। भाई के बैर से—विषदन्त से कहीं भी रक्षा नहीं।'

इतना कहने के बाद फकीर ने जोर से अपने ओठों को दबा कर हृदय के आवेग को रोक लिया।

बड़े लड़के ने पूछा—'पिताजी! यह संन्यासी किस देश का राजा था?'

'मालूम नहीं, बेटा!'

'यदि हम लोगों को आश्रय न दें तो?'

'तो हम लोग पेड़ के नीचे सोयेंगे। और दूसरा स्थान ही कहाँ है?'

सन्ध्या के कुछ पहले दुर्ग में संन्यासी और फकीर का साक्षात्कार हुआ। दोनों एक दूसरे को देखकर भौंचक-से रह गये।

गोविन्द-माणिक्य ने गौर से देखा। फकीर को फकीर कहना ठीक न जान पड़ा। छोटी-से-छोटी स्वार्थयुक्त वासनाओं से मन को मोड़कर एकमात्र उच्च उद्देश्य में लगाने से मुख पर एक प्रकार की जो ज्वाला रहित विमल ज्योति प्रकाशित होती है, वैसी ज्योति फकीर के मुख पर उन्होंने न देखी। फकीर सदैव सतर्क और सशङ्कित था। उसके हृदय की सम्पूर्ण तृषित वासनायें मानो उसके दोनों जलते हुए नेत्रों से अग्नि मान कर रही थीं। अधीर हिंसा उसके दृढ़ता-पूर्वक बन्द ओठों एवं जकड़े हुए दाँतों के बीच असमर्थता-पूर्वक अवरुद्ध हो, फिर मानो हृदय के अन्ध गह्वर में प्रवेश करके अपने को ही दाँत काट रही थी।

साथ में तीन बालक! उनके अत्यन्त सुकुमार, सुन्दर और थके-माँदे शरीर तथा गर्वयुक्त सङ्कोच को देखकर जान पड़ा मानो जन्म से उनका जीवन अत्यन्त यत्न-पूर्वक सम्मान-पूर्ण ढङ्ग से व्यतीत हुआ था। पृथ्वी पर इस तरह चलने का उनका यह पहला अवसर था। 'चलने से पैर की अँगुलियों में धूल लगती है'—यह मानो पहले उनको प्रत्यक्ष रूप से मालूम न था। पृथ्वी के इस धूलिमय मलिन दारिद्र से मानो पग-पग पर उन्हें इस पृथ्वी से घृणा हो रही थी, मसनद और मिट्टी में इस अन्तर को देखकर कदम-कदम पर मानो वे पृथ्वी का तिरस्कार कर रहे थे। पृथ्वी ने मानो विशेष रूप से उनके प्रति मनमुटाव रखकर अपनी सुख-सम्पत्ति को समेट रक्खा था। सभी उनके समीप मानो अपराध कर रहे थे। दरिद्र भिखा माँगने के लिए अपने मैले कपड़े को लेकर उनके समीप जाने का जो साहस कर रहा है, वह है केवल उसकी स्पर्धा। घृणित कुत्ता कहीं समीप न आ जाय, इसलिए लोग जिस प्रकार थोड़ा-सा जूठा दूर से फेंक देते हैं, ये भी मानो उसी प्रकार भूखे, मलिन भिखमङ्गों को देखकर दूर से ही मुँह फेरकर एक मुट्ठी रुपया-पैसा अनायास ही फेंक सकते थे, अधिकांश पृथ्वी का इतना थोड़ा सामान्य भाव तथा यह दरिद्रता उनकी दृष्टि में मानो उनके प्रति एक बड़ी बेअदबी थी। वे पृथ्वी पर सुखी एवं सम्मानित न थे'—यह मानो इस पृथ्वी का ही एकमात्र दोष था।

गोविन्द-माणिक्य का इतनी दूर तक सोच जाना ठीक न था। बाद में लक्षणों द्वारा उन्होंने समझ लिया कि फकीर अपनी वासनाओं को

त्याग कर, स्वाधीन और स्थित प्रज्ञ होकर संसार की भलाई करने निकला है—ऐसी बात नहीं। यह केवल अपनी वासनाओं की तृप्ति न होने के कारण ही द्वेष से संसार-विमुख होकर निकल पड़ा है। ऐसा लगा, मानो फकीर का यह विश्वास था कि वह जो चाहे वही उसका पावना है तथा संसार उससे जो चाहे उसे अपनी सुविधानुसार देने से काम चल सकता है और यदि न भी दिया तो कोई हानि नहीं। ठीक इस विश्वास के अनुसार कार्य न होने के कारण वह संसार से नाता तोड़ बाहर निकल पड़ा था।

गोविन्द माणिक्य को देखकर फकीर के जी में आया कि राजा कहें, संन्यासी कहना भी ठीक न जान पड़ा। उसने ऐसी आशा न की थी। वह सोचता था कि कोई लम्बोदर, पगड़ी बाँधे मोटा-तगड़ा व्यक्ति देखने को मिलेगा या तो एक दरिद्र वेषभूषा वाला मलिन संन्यासी—भस्म रमाये, धूल की शय्या पर सोने वाला, उद्धत स्पर्द्धा वाला—होगा। किन्तु इन दोनों में से उसने एक भी न पाया। गोविन्द माणिक्य को देखकर ऐसा मालूम होता था मानो उन्होंने सब कुछ त्याग दिया था फिर भी सब कुछ उन्हीं का था। वे कुछ न चाहते थे मानो इसी कारण उन्हें सब कुछ मिल गया था। उन्होंने जिस प्रकार आत्म-समर्पण कर दिया था उसी प्रकार सारा संसार अपनी इच्छानुसार उनके निकट आ गया था। उनमें किसी प्रकार का आडम्बर न था इसी कारण वह राजा थे एवं सारे संसार के अत्यन्त निकट रहने से वे थे संन्यासी। यही कारण था कि न तो उन्हें राजा ही बनना पड़ा और संन्यासी ही।

राजा ने अपने अतिथियों की भली-भाँति सेवा की, पर उन्होंने राजा की सेवा को बड़ी अवहेलनापूर्वक स्वीकार किया। ऐसा जान पड़ा मानो इस पर उनका पूर्ण अधिकार था। अपने आराम के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी उसे भी उन्होंने राजा को बता दिया।

राजा ने स्नेह-पूर्वक बड़े लड़के से पूछा—'क्या रास्ते के परिश्रम के कारण बड़ी थकावट मालूम हो रही है?'

लड़के ने उसका ठीक प्रकार से उत्तर न दिया और फकीर के निकट खसककर बैठ गया। राजा उन लड़कों की ओर देख कुछ मुस्कराकर

बोले—'तुम लोगों का यह सुकुमार शरीर रास्ता चलने योग्य नहीं है। तुम लोग मेरे इस दुर्ग में रहो, मैं तुम लोगों को यत्नपूर्वक रक्खूँगा।'

लड़कों ने यह न सोचा कि राजा की इस बात का उत्तर देना ठीक है अथवा नहीं और इन सभी लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना उचित होगा। वे फकीर के और भी समीप खिसककर बैठ गये मानो उन्होंने सोचा कि कहाँ से यह व्यक्ति (राजा) अपने गन्दे हाथों को बढ़ाकर तत्क्षण आत्मलीन करने आया है।

फकीर ने गम्भीर होकर कहा—'अच्छा, हम लोग कुछ समय तक तुम्हारे इस दुर्ग में रह सकते हैं।' फकीर ने मानो राजा पर बड़ी कृपा की। उसने मन ही मन कहा—'यदि तुम यह जानते कि मैं कौन हूँ, तो इस अनुग्रह के कारण तुम्हारे आनन्द की और भी सीमा न रहती।'

राजा किसी भी प्रकार तीनों लड़कों को अपनी ओर आकर्षित न कर सके। फकीर भी एकदम निर्लिप्त रहा।

फकीर ने गोविन्द माणिक्य से पूछा—'सुना है, तुम किसी समय राजा थे, कहाँ के राजा?'

गोविन्द माणिक्य ने उत्तर दिया—'त्रिपुरा का।'

इसे सुनकर उन बालकों ने उनको बड़ा ही छोटा समझा। उन्होंने कभी त्रिपुरा का नाम भी न सुना था। किन्तु फकीर थोड़ा विचलित हो गया। उसने फिर पूछा—'तुम्हारा राज्य कैसे गया?'

गोविन्द माणिक्य कुछ देर चुप रहे। अन्त में बोले—'बङ्गाल के नवाब शाह शुजा ने मुझे राज्य से निर्वासित कर दिया है।' उन्होंने नक्षत्र राय की कोई बात न बताई।

इस बात को सुनकर सभी लड़के चौंककर फकीर के मुँह की ओर देखने लगे। फकीर का मुँह विदीर्ण हो गया। वह तुरन्त बोल उठा—'समझा! यह सब तुम्हारे भाई का काम है। जान पड़ता है तुम्हारे भाई ने तुम्हें राज्य से निकालकर संन्यासी बना दिया है।'

राजा आश्चर्य-चकित हो गये। वे बोले—'आपने यह खबर कहाँ से पाई?' बाद में उन्होंने सोचा कि कोई आश्चर्य का विषय नहीं। किसी से सुन लिया होगा।

फकीर ने फिर तुरन्त ही कहा—'मैं कुछ नहीं जानता, केवल अनुमान

कर रहा हूँ।'

रात होने पर सभी सोने चले गये। उस रात फकीर को नींद न आई। जागृतावस्था में ही वह बुरे स्वप्न देखने लगा और प्रत्येक शब्द पर चौंक उठता था।

दूसरे दिन फकीर ने गोविन्द माणिक्य से कहा—'कुछ विशेष कार्यवश यहाँ अब और ठहरना न होगा। हम लोग आज चले जायँगे।'

गोविन्द माणिक्य बोले—'रास्ते के कष्ट के कारण थक गये हैं। कुछ समय और आराम कर लेने से अच्छा होगा।'

बालक कुछ विरक्त से हो गये। सब से बड़े लड़के ने फकीर की ओर देखकर कहा—'हम निरे बालक नहीं हैं। जब आवश्यकता पड़े कष्ट सहन कर सकते हैं।' वे गोविन्द माणिक्य का स्नेह-दान लेने को प्रस्तुत न थे। गोविन्द माणिक्य ने फिर कुछ न कहा।

फकीर जब जाने की तैयारी कर रहा था उसी समय दुर्ग में एक अन्य अतिथि आ गये। उनको देखकर राजा और फकीर दोनों स्तम्भित रह गये। फकीर यह न सोच सका कि क्या करें? राजा ने उस अतिथि को प्रणाम किया। अतिथि अन्य कोई व्यक्ति न था—वे थे रघुपति। रघुपति ने राजा के प्रणाम को स्वीकार करते हुए कहा—'जय हो!'

राजा ने आतुरतापूर्वक पूछा—'नक्षत्र के यहाँ से आ रहे हो ठाकुर? कोई विशेष समाचार है?'

रघुपति ने उत्तर दिया—'नक्षत्र राय सकुशल हैं। आप उनके बारे में विचार न करें।' फिर आकाश की ओर हाथ उठाकर उन्होंने कहा—'मुझे जयसिंह ने तुम्हारे पास भेजा है। वह जीवित तो नहीं है। पर मैं उसकी इच्छा पूर्ण करूँगा अन्यथा मुझे शान्ति न मिलेगी। तुम्हारे समीप रहकर, तुम्हारा साथी होकर मैं तुम्हारे सभी कामों में सहायता दूँगा।'

पहले राजा रघुपति की बातों का कुछ भी मतलब न समझ सके। उन्होंने एक बार अपने मन से कहा कि जान पड़ता है रघुपति पागल हो गये हैं। राजा चुप रहे।

रघुपति ने फिर कहा—'मैंने सब कुछ देख लिया है, कहीं भी सुख नहीं—हिंसा करने में सुख नहीं, राज्य करने में सुख नहीं। तुमने जो

मार्ग अपनाया है उसमें ही एकमात्र सुख है। मैंने तुमसे बड़ी शत्रुता की, द्वेष किया, तुम्हें अपने सम्मुख बलि चढ़ाना चाहा, आज तुम्हारे निकट सर्वस्व त्याग करने आया हूँ।'

गोविन्द माणिक्य बोले—'ठाकुर! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया है। मेरा शत्रु परछाईं की तरह मेरे साथ-साथ लगा रहता था। उसके हाथ से तुमने मुझे छुटकारा दिलाया है।'

रघुपति ने इन बातों पर विशेष ध्यान न देते हुए फिर कहा—'महाराज, प्राणियों का रक्तपात करके मैं एक समय जिस राक्षसी की सेवा करता था अन्त में उसने मेरे ही हृदय के सम्पूर्ण रक्त को चूस लिया। उसी रक्तपिपासिनी जड़ता, मूढ़ता को मैं दूर करके आया हूँ। अब वह महाराज के राज्य के देवालय में नहीं है इस समय वह राजसभा में प्रवेश करके सिंहासनारूढ़ है।'

राजा बोले—'यदि वह देव-मन्दिर से दूर हो गई तो धीरे-धीरे मनुष्यों के हृदय से भी दूर हो जायगी।'

पीछे से एक परिचित स्वर ने कहा—'नहीं महाराज, मानव हृदय ही तो उसका प्रकृति-मन्दिर है, वहीं तो तलवार तेज होती है, वहीं तो नर-बलियाँ होती हैं, मन्दिर में उसका केवल नाटक मात्र ही होता है।'

राजा ने चौंककर पीछे देखा—'प्रसन्न-मुख, सयमूर्ति बिल्वन थे। राजा ने उनको प्रणाम करके रुँधे हुए कण्ठ से कहा—'आज कितना आनन्द है!'

बिल्वन ने कहा—'महाराज, स्वयं को जीतकर आपने सभी पर विजय प्राप्त कर ली है। इसी कारण आपके द्वार पर आज शत्रु और मित्र सभी एकत्र हुए हैं।'

फकीर ने आगे आकर कहा—'महाराज, मैं भी आपका शत्रु हूँ। मैं भी आत्मसमर्पण करता हूँ।' फिर रघुपति की ओर अँगुली उठाकर उसने कहा—'यह ब्राह्मण महाशय मुझे जानते हैं। मैं ही शुजा हूँ—बङ्गाल का नवाब। मैंने ही बिना अपराध के आपको निर्वासित किया था और उस पाप का दण्ड भी पा लिया है। मेरे भाई की हिंसा-वृत्ति आज प्रत्येक मार्ग पर मेरा पीछा कर रही है। मेरे राज्य में अब मुझे खड़ा होने का भी

स्थान नहीं। वेष बदलकर अब मैं नहीं रह सकता। आपके निकट आत्म-समर्पण करके मानो मैं मुक्त हुआ हूँ।'

राजा और नवाब गले मिले। राजा ने इतना ही कहा—'मेरा कितना सौभाग्य है!'

रघुपति ने कहा—'महाराज! तुमसे शत्रुता करने में भी लाभ ही है। तुमसे शत्रुता करने के कारण ही मैं तुम्हारे समीप आ पड़ा हूँ, अन्यथा कभी भी तुमको जान न पाता।'

बिल्वन ने हँसकर कहा—'जिस प्रकार जाल में पड़ने के बाद उसे तोड़ने की कोशिश करने से गला और भी फँसता ही जाता है।'

रघुपति—'मुझे अन्य किसी प्रकार का कष्ट या दुःख नहीं है, मैंने शान्ति पा ली है।'

बिल्वन—'शान्ति और सुख तो अपने ही भीतर है, केवल हम जान नहीं पाते। मानो भगवान के बनाये इस मिट्टी के पात्र में अमृत रखा है। पर 'इसमें अमृत है'—ऐसा कहने से किसी को विश्वास नहीं होता। आघात लगने से पात्र के फूट जाने पर ही कहीं उस अमृत का स्वाद मिलता है। हाय! हाय! ऐसी वस्तु भी ऐसे पात्र में रहती है?'

इसी समय गगनभेदी एक 'हो! हो!' का शब्द हुआ। देखते-देखते दुर्ग में छोटे-बड़े बहुत-से लड़के आ गये।

राजा ने बिल्वन से कहा—'यह देखो ठाकुर, मेरा ध्रुव है।' इतना कहकर राजा ने लड़कों को दिखा दिया।

बिल्वन—'जिसकी कृपा से आपने लड़कों को पा लिया है वह भी आपको भूला नहीं है।'

इतना कहकर बिल्वन बाहर चले गये। थोड़ी देर के बाद ध्रुव को गोद में लिये हुए आये और उसको राजा की गोद में दे दिया।

राजा ने उसको कलेजे से चिपका कर पुकारा—'ध्रुव!'

ध्रुव कुछ न बोला। गम्भीरता-पूर्वक चुपचाप राजा के कन्धे पर सिर रक्खे पड़ा रहा। बहुत दिनों के बाद प्रथम मिलन के अवसर पर बालक के नन्हें-से हृदय में मानो एक प्रकार का अस्फुट अभिमान और लज्जा उत्पन्न हो गई। वह राजा से लिपटकर मुँह छिपाये रहा।

राजा ने कहा—'और तो सब कुछ हो गया, केवल नक्षत्र राय ने 'भाई' न कहा।'

शुजा ने तीव्र भावना में आकर कहा—'महाराज, अन्य सभी बड़ी आसानी से भाई के समान व्यवहार करते हैं केवल अपना ही भाई नहीं करता।'

शुजा के हृदय से इस समय भी वह शूल निकला न था।

उपसंहार

यहाँ यह बता देना आवश्यक जान पड़ता है कि वे तीनों लड़के शुजा की तीन लड़कियाँ थीं जिन्होंने वेष बदल लिया था। शुजा मक्का जाने के उद्देश्य से चट्टग्राम के बन्दरगाह पर गया था, किन्तु वर्षा आ जाने के कारण वह कोई जहाज न पा सका। अन्त में हताश होकर लौटते समय मार्ग में गोविन्द माणिक्य से इस दुर्ग में भेंट हो गई। कुछ दिन दुर्ग में रहने के पश्चात् शुजा ने खबर पाई कि वहाँ पर भी सम्राट् की सेना उसका पता लगा रही है। गोविन्द माणिक्य ने सवारी तथा बहुत-से सेवकों के साथ शुजा को अपने मित्र आराकान के राजा के पास भेज दिया। जाते समय, शुजा ने अपनी बहुमूल्य तलवार राजा को उपहार रूप में दे दी।

इसी बीच राजा, रघुपति तथा बिल्वन ने मिलकर सारे गाँव में मानो प्राण फूँक दिया। राजा का दुर्ग सारे गाँव का प्राण बन गया।

इस प्रकार छः साल बीत जाने पर छत्र माणिक्य की मृत्यु हो गई। पुनः गोविन्द माणिक्य को सिंहासन पर लौटा ले जाने के लिए त्रिपुरा से एक दूत आया।

राजा ने कहा—'मैं राज्य में लौटकर न जाऊँगा।'

बिल्वन बोले—'ऐसा न होगा महाराज, जब धर्म स्वयं द्वारा पर आकर बुला रहा है तब आप उसकी अवहेलना नहीं कर सकते।'

राजा ने छात्रों की ओर देखकर कहा—'मेरी इतने दिनों की आशा अपूर्ण और इतने दिनों का कार्य अधूरा रहेगा।'

बिल्वन—'आपका कार्य यहाँ मैं करूँगा।'

राजा—'तुम यदि यहाँ रहोगे तो फिर वहाँ का मेरा कार्य अधूरा हो जायगा।'

बिल्वन—'नहीं महाराज! अब आपको मेरी आवश्यकता नहीं। अब आप स्वयं आत्मनिर्भर रह सकते हैं। यदि समय पाऊँगा तो बीच-बीच में आप से भेंट कर आया करूँगा।'

राजा ने ध्रुव के साथ राज्य में प्रवेश किया। ध्रुव अब एकदम छोटा न था। बिल्वन की कृपा से संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करके वह शास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। रघुपति ने फिर पुरोहिती अपनाई। इस बार मन्दिर में आकर उन्होंने मृत-जयसिंह को मानो पुनः जीवित भाव में पा लिया।

उधर आराकान के विश्वासघातक राजा शुजा की हत्या करके उसके सबसे छोटी लड़की से विवाह कर लिया।

अभागे शुजा के प्रति आराकान के राजा की इस नृशंसता को सुन कर गोविन्द माणिक्य को बड़ा दुःख हुआ। शुजा के नाम को चिरस्मरणीय करने के लिए उन्होंने उस तलवार के बदले में बहुत अधिक धन लगाकर कुमिल्ला नगर में एक बड़ी ही शानदार मसजिद बनवाई। वह आज भी शुजा मसजिद के नाम से वर्तमान है।

गोविन्द माणिक्य के प्रयत्न से मिहिर-कुल आबाद हुआ था। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से बहुत-सी जमीन ताम्रपत्र पर लिख कर ब्राह्मणों को दान कर दी। महाराज गोविन्द माणिक्य ने कुमिल्ला के दक्षिण बातिसा ग्राम में एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया। उन्होंने बहुत-से अच्छे कार्यों का अनुष्ठान किया पर पूरा न कर सके। इसी अनुपात से सन् १६६६ ई० में उन्होंने अपनी मानव-लीला समाप्त कर दी।

❀ समाप्त ❀